# जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ११ किरण १

# THE JAINA ANTIQUARY

Vol. X. No. I.

*Edited by*

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
( JAINA SIDDHANTA BHAVANA )
ARRAH, BIHAR, INDIA.

JUNE, 1944.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

8447

# जैन-सिद्धान्त-भास्कर पर कुछ सम्मतियां

"जैन संशोधन का एकमात्र षाण्मासिक पत्र है। इसमें प्रकाशित लेख जैन साहित्य के लिये अमूल्य होते हैं।"

—जैनमित्र

"जैन समाज में पुरातत्त्व अन्वेषण सम्बन्धी लेखों को प्रकाशित करने में 'भास्कर' सफल रहा है। सम्पादक महोदयों का प्रयत्न सराहनीय है।'

—जैनसंदेश

"इसमें जैन पुरातत्त्व सम्बन्धी खोजपूर्ण और ठोस सामग्री रहती है।"

—खण्डेलवाल जैन हितेच्छु

"इसमें सभी लेख अन्वेषणात्मक हैं। जैन समाज का एकमात्र ऐतिहासिक पत्र यही है। इसका स्थान वही है जो आधुनिक विश्वविद्यालयों में प्रकाशित खोजपूर्ण जर्नलों का है। अथवा यह भी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी कि निष्पक्ष किसी भी अन्य मतावलम्बी विद्वान् के हाथ में देने योग्य जैन समाज का यही पत्र है। पत्र अत्यन्त उपयोगी है।"

—जैन महिलादर्श

"यह षाण्मासिक पत्र यथावत् अपनी उत्कृष्टता की रक्षा करता आ रहा है। लेखों में वैविध्यता एवं विद्वत्ता स्पष्ट झलक रही है।"

—अध्यात्मप्रकाश

"The paper, no doubt has been appreciated by the visitors very much."

—Ganga Saran Mathur
Librarian & Secretary
Maharaja's public Library, Jaipur.

Jaina Literature in Tamil अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है। इस ग्रन्थ के पढ़ने से हम अच्छी तरह से जान सकते हैं कि प्राचीन तमिल साहित्य की उन्नति में जैनधर्म का कितना महत्त्वपूर्ण हाथ है। उत्तर भारत के लोगों के लिये यह ग्रन्थ एक विशाल रत्न राशि को प्रकट कर रहा है।

—प्रो० बलदेव उपाध्याय एम० ए०, बनारस

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

# जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग ११ ] [ किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) एक प्रति का २)

वि० सं० २००१

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

# विषय-सूची


पृष्ठ सं०

१ भारत के विदेशी लोगों में जैनधर्म—[श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, डी० एल०, एम० आर० ए० एस० ... ... ... ... १

२ ज्ञानार्णव और उसके कर्त्ता के काल के विषय में कुछ ज्ञातव्य बातें—[श्रीयुत पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, बनारस ... ... ... ६

३ क्या षट्खण्डागम सूत्रकार और उनके टीकाकार—वीरसेनाचार्य का अभिप्राय एक ही है ?—[श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन एम० ए०, एल० एल० बी० ... १३

४ जिनकल्प और स्थविरकल्प पर श्वेताम्बर साधु श्रीकल्याणविजय जी—[श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन डी० एल०, एम० आर० ए० एस० ... ... १९

५ दि० जैन व्रत कथाएँ—[श्रीयुत अगरचंद नाहटा ... ... २७

६ अपभ्रंश भाषा का काल—[श्रीयुत पं० परमानन्द जैन शास्त्री ... ... ३८

७ क्या समन्तभद्र धर्मकीर्त्ति के उत्तरकालीन हैं ?—[श्रीयुत न्यायाचार्य पं० दरबारी लाल जैन कोठिया ... ... ... ... ४१

८ स्वप्न और उसका फल—[श्रीयुत साहित्यरत्न, न्याय-ज्योतिषतीर्थ पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री ... ... ... ... ... ५१

९ वर्तमान तिलोयपण्णत्ति और उसके रचनाकाल आदि का विचार—[श्रीयुत पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री ... ... ... ... ६५

१० समीक्षा—

(१) षट् खण्डागम ६ वीं जिल्द—[श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, साहित्यरत्न, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ ... ... ... ... ८३

(२) अनित्यभावना—[श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री ... ... ८४

(३) स्वामी दयानन्द और वेद—[श्रीयुत बनारसी प्रसाद भोजपुरी हिन्दी रत्न ... ८५

(४) वैदिक ऋषिवाद—[श्रीयुत बनारसी प्रसाद भोजपुरी हिन्दीरत्न ... ८६

(५) स्व० हेमचन्द्र—[श्रीयुत पं० कमलाकान्त उपाध्याय, वेदान्त-साहित्य-व्याकरणाचार्य काव्यतीर्थ... ... ... ... ... ८७


Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

श्रीजिनाय नमः

# जैन सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग ११ | जून, १९४४। आषाढ़, वीर नि० सं० २४७० | किरण १

## भारत के विदेशी लोगों में जैनधर्म

[ले०—श्रीयुत कामताप्रसाद जैन, डी० एल०, एम० आर० ए० एस०]

कहा जाता है कि सिकन्दर महान् के पहले भारत के लोह-कपाट किसी ने नहीं खोले थे—भारत अजेय था। इस जनश्रुति में बहुत कुछ तथ्य है। जैनशास्त्रों में श्रीमुनि-सुव्रतनाथजी के तीर्थकाल में म्लेच्छों के आक्रमण का उल्लेख है अवश्य, परन्तु वे म्लेच्छ भारत विजेता नहीं हुये। इतिहास से पता चलता है कि भगवान् महावीर के समय के लगभग ईरान के शाहों ने भारत पर आक्रमण किया था और उन्होंने पश्चिमोत्तर भारत के कुछ भाग पर अधिकार भी कर लिया था। किन्तु उनका अधिकार क्षणिक था—उन्हें शीघ्र सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार अथवा सम्राट् नन्दवर्द्धन ने परास्त कर दिया था[1]। इस प्रकार यद्यपि ईरानियों की यह भारत विजय क्षणिक थी, परन्तु इसने पारस्यवासियों (ईरानियों) और भारतीयों को एक दूसरे के सम्पर्क में ला बिठाया। उनमें परस्पर कटुता नहीं बढ़ी; बल्कि सांस्कृतिक आदान-प्रदान बढ़ा। भारतीय संस्कृति से ईरानी और उनके साथी प्रभावित हुये। जैन-शास्त्रों से हमें पता चलता है कि सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार के युवराज अभयकुमार की मित्रता पारस्यदेश के आरदर्क नामक राजकुमार से हुई थी। अभयकुमार भगवान् महावीर की शरण में पहुंचे और मुनि हो गये। आरदर्क ने जब यह सुना तो वह भी भगवान् की शरण में आया—वीर प्रभु पतितपावन थे—उनका उपदेश आर्य और अनार्य सब के लिये समान रूप में होता था। उन्होंने आरदर्क को भी प्रव्रज्या दी—वह जैन मुनि हो गये[2]। इसी समय फणिक (Phoenecia) देश के बहुत से व्यापारी भारत के सम्पर्क में आये थे। उनमें परस्पर विवाह सम्बन्ध भी होते थे। एक कथा से प्रकट है कि सागरदत्त सेठ की पत्नी पणिका (फणिकदेशवासी) थी और उनका पुत्र पणिक

१ मॉडर्नरिव्यू, नवम्बर १९३० पृ० ४३८ व जर्नल ऑव दी बिहार एंड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी भा० १ (१९१५) पृ० ८०

२ डिक्शनरी ऑव जैन बॉयोग्रेफी (आरा) पृ० ११ व १२

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(फणिक) हुआ। फणिक देश की माता के कारण पुत्र का फणिक नाम से प्रसिद्ध होना स्वाभाविक था। वह फणीश्वर अर्थात् फोनीशिया (Phoenecia) के अधिवासी लिखे भी गए हैं। वह पणिक एक समय भगवान् महावीर के समवशरण में पहुँचा और मुनि हो गया। जब वह पणिक मुनि नाव में बैठे गंगा नदी को पार कर रहे थे, तब नाव पर से ही मुक्त हुये—आज वह सिद्ध परमात्मा के रूप में हमारे मंदिरों में पूजे जा रहे हैं।[१] यह थी जैनधर्म की विशालता भगवान् महावीर के समय में। तब जैन संघ व्यवस्थित था—उसमें मुमुक्षुओं को पहचाननेवाले और उन्हें जैनधर्म की दीक्षा देकर संघ में मिलाने वाले आचार्य विद्यमान थे— वह जैनधर्म की विशालता को अक्षुण्णबनाये हुये थे।

उपरान्त सब से पहला आक्रमण भारत पर यवन सम्राट् सिकन्दर महान् का हुआ था। सिकन्दर जब तक्षशिला के पास पहुँचा तो उसे बहुत से दिगम्बर साधु मिले। उनमें जैन श्रमण भी थे[२]। सिकन्दर ने उनके प्रकाण्ड ज्ञान और अतुल तपस्या की बात सुनी—वह प्रभावित हुआ और ओनेसिक्रिटस (Onesikritos) नामक अफसर को उनका हालचाल लेने के लिये भेजा था। उसने दिगम्बर मुनियोंसे बहुत सी बातें पूछीं और जब उन्होंने यह कहा कि वह भी दिगम्बर मुनि हो जावे, तो वह असममंजस में पड़ गया।[३] निस्सन्देह जैनसंघ का द्वार उस समय प्रत्येक मनुष्य के लिये खुला था—यूनानियों ने भी यही लिखा है।[४] उस समय जैनधर्म के प्रभाव से वे वञ्चित नहीं रहे थे।

यद्यपि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने यूनानियों को परास्त करके भारत से उनके शासनाधिकार का अन्त कर दिया था; परन्तु यूनानी सम्पर्क के प्रभाव से भारत नहीं बचा। भारत पर यूनानी शिल्पकला का किञ्चित् प्रभाव पड़ा। परन्तु यूनानी भारतीय धर्म और संस्कृति से खूब ही प्रभावित हुये। सम्राट् चन्द्रगुप्त ने यूनान की राजकुमारी के साथ विवाह कर के एक आदर्श उपस्थित किया, जिसका अनुकरण उपरान्तकाल में खूब हुआ। उधर अनेक भारतीय यूनानी जैनधर्म के सिद्धान्तों को समझ कर जैनी बन गये[५]। बौद्ध ग्रंथ

१ आराधना कथाकोष; व 'भ० पार्श्वनाथ' पृ० १६६-२००

२ 'भारत के श्रमण नग्न रहते, कठिन परीषह सहन करते और किसी का निमंत्रण स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी माङ्गता जनसाधारण में खूब है।' —मेडक्रिडिल ऐंशियेंट इंडिया पृ० ६२

'भारत के साधु नग्न रहते और कोहकाफका बर्फ तथा सर्दी का वेग बिना संक्लेश परिणामों के सहन करते हैं और जब वे अपने शरीर को अग्नि के सुपुर्द कर देते हैं और वह जलने लगता है, तो उनके मुख से एक आह भी नहीं निकलती है।' —Ibid. p. 68.

इसमें जैन व्रत सल्लेखना का उल्लेख किया गया है। अन्त समय को ठीक जानकर उसे धारण किया जाता है।

३ Ibid. p. 70.

४ Ibid. p. 167 व 'वीर' वर्ष ५ पृ० २३०—२३४

५ Historical Gleanings, p. 78

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

'मिलिन्दपण्ह' से स्पष्ट है कि यवनराज मिलिन्द (Menander) पांच सौ यूनानियों के साथ जैन मुनियों के पास सिद्धान्तचर्चा करने गया था और उनमें से अधिकांश यूनानी जैनी हो गये थे।[१]

यूनानियों की भांति शकवंश के विदेशी लोग भी जैनधर्म के संसर्ग में आये थे। 'कालककथानक' से स्पष्ट है कि ई० पू० सन् १२३ के लगभग ९६ शाही (शक) कुलों को वह सौराष्ट्र ले आये थे और उनको जैनधर्म से प्रभावित किया था।[२]

कुशनवंश के राजाओं के शासनकाल में जैनधर्म की उन्नति विशेष थी। उस समय मथुरा जैनधर्म का केन्द्र था और वहां पर विदेशी लोगों की संख्या भी अधिक थी। शिलालेखों से पता चलता है कि वे विदेशी जैनधर्म के प्रभाव से अछूते नहीं रहे थे।[३] हाल में ही प्रो० लुडर्स ने मथुरा के कंकालीटीला से प्राप्त जैन मूर्तियों पर के लेखों से उन विदेशियों का जैनी होना सिद्ध किया है। उन्होंने एक शिलालेख को निम्न प्रकार पढ़ा है :—

१ नम स्वर्वसीधना आरहत्वना महाराजस्य राजातिराजस्य स्वरवच्छर स्वते.....
२ २००, ९० (२) हमतमासे २ दिवसे १ आराहातो महावीरास्य प्रतिमा..... .....
३ .....स्य ओखारिकाये वितु उज्झतिकाय च ओखाए स्वाविका भगीनिये.....
४ .....शीरिकास्य शिवदीनास्य च एतेह आराहाताय-ताने स्थापिता.....
५ .....देवकुलं च।

इस लेख का भावार्थ यह है कि 'सर्व सिद्धों को और अर्हतों को नमस्कार हो! महाराज राजातिराज के शासन वर्ष .....२९२ (वर्ष) हेमंत के दूसरे महीने के पहले दिन को अर्हत् महावीर की एक प्रतिमा ओखारिका और उसकी पुत्री उज्झतिका एवं श्राविका भग्गी ओखा और शिवदीन ने दान की थी—अर्हतों के पवित्रस्थान पर उसे स्थापा था।'

इस लेख की भाषा और नामों के आधार से प्रो० लुडर्स सा० इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इस महावीर प्रतिमा के संस्थापक दातार पारथीय यवन (Parthians) थे। इसमें जिस रीति से वर्ष और संवत् का उल्लेख है वह विदेशी रीति है। साथ ही इसमें जो विकृत रूप है वह लेखक की गलती से नहीं, बल्कि भाषा के उच्चारण का द्योतक है। पारथीय यवन अथवा शक लोग 'श' का अधिक उच्चारण करते थे। 'सर्वसिद्धानं' पद का उच्चारण उन शकों के मुंह से 'स्वर्वशीधाना' होना स्वाभाविक था। 'स' को 'स्व' और 'अं' को 'आ' रूप में वे बोलते थे। यह उच्चारण भेद ठीक वैसा ही था जैसा

१ मिलिन्दपण्ह १०८
२ संक्षिप्त जैन इतिहास, भा० २ खंड २ पृ० १२—१४
३ Ibid, p., 17-18

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कि आज एक बंगाली के मुंह से हिन्दी का उच्चारण होता है और वह 'प्रसाद' को 'प्रोसाद' कहता भी और लिखता भी है। इसके अतिरिक्त 'ओखारिका' और 'ओखा' नाम ग्रीक भाषा और देश के नाम 'यूखारिया' और 'यूखे' (Eucharia & Euche) के द्योतक हैं। उज्झतिका भी यवन नाम है[1]। केवल शीरिक और शिवदीन भारतीय नाम हैं। पुरुषों के नामों का भारतीयकरण जल्दी हो जाता है और हमें शक राजाओं में रुद्रसिंह, ऋषभदत्त आदि नाम मिलते हैं। स्व० श्रीदयारामजी साहनी ने मथुरा के एक अन्य जैन लेख में[2] ओखारिका नाम पाया था। यह लेख इस प्रकार है '—

'दिमित्रस्य धितु ओखरिकाये कुटुबिनिये दताये दानं वर्धमान प्रतिमा प्रतिथापिता।'

इस लेख में दिमित्रय शब्द बिल्कुल यवन (Greek) नाम है। इस इंडोग्रीक नाम (Demeterios) का एक इंडोग्रीक राजा भी हुआ है। परन्तु उक्त लेख में किस दिमित्रयका उल्लेख है यह स्पष्ट नहीं है। इसमें उल्लेख है कि दिमित्रय की पुत्री ओखरिका और उसकी पत्नी दत्ता ने वर्द्धमान भगवान् की प्रतिमा स्थापित की थी। यह ओखरिका उपर्युक्त ओखरिका से भिन्न है। इस लेख से एवं चरसद्दा से प्राप्त एक खरोष्टी भाषा के लेख से स्पष्ट है कि ओखादि नाम मूलतः यूनानी (Greek) हैं। अतः उपर्युक्त प्रतिमाओं के संस्थापक पारथीय (Parthian) विदेशी थे, जो जैनधर्म में दीक्षित हो गये थे।

छत्रप राजाओं में नहपान और रुद्रसिंह का सम्बन्ध भी जैनधर्म से था। 'आवश्यक-निर्युक्ति' आदि जैन ग्रन्थों से स्पष्ट है कि नहपान ने धर्मप्रभावना में बहुत धन खर्चा था। रुद्रसिंह का एक भग्न शिलालेख मिला है जिसमें 'केवलज्ञानसंप्राप्ताणां' पद भी प्रयुक्त हुआ है, जो उनके जैनत्व का द्योतक है। उन्होंने जैन मुनियों के लिये गिरिनार के पास गुफायें बनवाईं थीं।[4]

श्वेताम्बराचार्य उद्योतनसूरि की 'कुवलयमाला' से स्पष्ट है कि चन्द्रभागा नदी के तट पर पव्वइया नगरी में श्री तोरराय राजा राज्य करते थे। उनके गुरु हरिगुप्त के शिष्य महाकवि देवगुप्त थे। (तस्स गुरू हरिउत्तो आयरियो आसि गुत्त वंसाओ) विद्वानों की दृष्टि में उपर्युक्त तोरराय राजा हूणलोगों का नेता तोरमाण है और राजर्षि देवगुप्त गुप्तवंश के रत्न थे।[5] अतः हूण जातीय विदेशियों में भी जैनाचार्य जैनधर्म का प्रचार करने में सफल हुए थे।

---

१ *Luders*, D. R. Bhandarkar volume (Culcutta) pp. 280—289.

२ *Sahni*. Epigraphica, Indica, Vol. XIX, p. 67.

३ 'भाण्डारकर वॉल्यूम' में ही प्रो० स्टेनकोनो ने चरसद्दा के एक शिलालेख में छत्रप अवखा नाम पढ़ा है, जो स्पष्टतः ग्रीक नाम है। इस लेख में भी वर्ष का उल्लेख जैन लेख के अनुरूप है। अतः उसे पारथीय लोगों का मानना ठीक है।

४ संक्षिप्त जैन इतिहास (सूरत) भा० २ खंड २ पृष्ठ २०—२६

५ शाह, जैनिज्म इन नॉर्थ इंडिया, पृ० २१०—२१३

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

मुसलमान बादशाहों के मध्य भी जैनाचार्यों ने धर्म प्रचार करने का उद्योग किया था;[1] परन्तु उनमें शायद ही कोई जैनधर्म में दीक्षित हुआ था। हाँ, जैनधर्म से वह खूब ही प्रभावित हुये थे। सम्राट् अकबर के लिए तो लोग कहने लगे थे कि वह जैनी हो गया है।[2] कई मुसलमान जैनी हुए थे, ऐसे उल्लेख मिलते हैं। सं० १९७० में दिल्ली के अब्दुर्रहमान फूलवाले ने स्थानकवासी जैनधर्म में दीक्षा ली थी। दिगम्बर सम्प्रदाय में जिनबख्शजी के पद भक्ति से पढ़े जाते हैं। जिनबख्शजी कट्टर जैनी हुए थे। हाल में ही एक मुस्लिम मास्टर सा० जैनी हो गए हैं और दृढ़ता से जैनधर्म पाल रहे हैं, किन्तु उनके साथ पहले जमाने जैसा उदारता का व्यवहार नहीं किया जाता है। पहले जैनाचार्य द्वारा नवदीक्षित जैनी का नूतन द्विज जन्म होता था और वह जैनसंघ में मिला लिया जाता था—उसके साथ कोई भेद भाव नहीं रक्खा जाता था। क्या जैनसंघ का वह प्राचीन उदार रूप फिर प्रकट होगा? कुछ अंग्रेज भी जैनधर्म में दीक्षित हुए हैं।

१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर में प्रकाशित हमारा पूर्व लेख देखिए—

२ सूरीश्वर और सम्राट् ग्रंथ देखो।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

# ज्ञानार्णव और उसके कर्त्ताके कालके विषयमें कुछ ज्ञातव्य बातें

(ले० श्रीयुत पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री, बनारस)

श्री स्याद्वाद विद्यालयके अकलंक सरस्वती भवनमें ज्ञानार्णवकी एक हस्त लिखित प्रति है। यह विक्रम सम्वत् १६४४ की लिखी हुई है। इसमें करीब सवा फुट लम्बे और ६ इंच चौड़े साईज के १९६ पत्र हैं। इसके अन्त में दो प्रशस्तियां दी हैं। पहली प्रशस्तिमें खासकर लिखानेवालेका और दूसरी प्रशस्तिमें जिसे यह प्रदान की गई है, उसका परिचय दिया है। ये दोनों प्रशस्तियाँ निम्न प्रकार हैं—

(१) अथ संवत्सरेऽस्मिन् श्रीनृपतिविक्रमादित्यराज्ये शाके संवत् १६४४ वर्ष वैईशाख-वदि सोमवाशरे श्री शाही अवर (अकव्वर) राज्ये प्रवर्त्तिमाने श्रीमत्काष्ठासंघे माथुरान्वय-पुष्करागणे श्रीज्योगिणीपुरवरे ब्रह्मकल्याण लिखापितं। लिषतं अनडूपुत्र देर्हदा सुमाली। श्रीशुभमस्तु। मांगलं दद्यात्।

(२) संवत् १६६२ वर्षे कार्तिकमासे शुक्लपक्षे शुभतिथौ श्रीखरतरगच्छे श्री जिन-प्रभाचार्यान्वये श्री जिनहितसूरिशाखायां श्रीमदभयचद्रोपाध्यायानां शिष्याः श्रीराजवर्द्धनगणयः तच्छिष्याः श्रीराजमेरवः तच्छिष्याः श्रीविनयराजगणयः तच्छिष्याः श्री शिवसुन्दरवाचकधुर्यः तेषां शिष्येण देवतिलकोपाध्यायेनेयं प्रतिर्गृहीता श्रीमदर्गलपुरे श्रीसंघेन दत्ता एकस्मात् पण्डित-पार्श्वाद् गृहीत्वा। शुभं कल्याणं भूयात् श्रीमदकव्वरराज्ये वर्तमाने।

दोनों प्रशस्तियोंका सार यह है—

(१) विक्रम संवत् १६४४ वसाख कृष्ण पक्ष सोमवार के दिन अकबर बादशाहके राज्यकाल में काष्ठासंघी माथुरान्वयी पुष्करागणी ब्रह्मकल्याणने ज्योगिनी नगरमें इस प्रतिको लिखाया। लेखक अनडूका पुत्र देर्हदा सुमाली है।

(२) खरतरगच्छ, जिनप्रभाचार्यान्वयकी जिनहितसूरि नामक शाखामें श्री अभयचन्द्र उपाध्याय हुए। इसके बाद उनके शिष्य राजवर्द्धन गणि हुए। अनन्तर इनके शिष्य राजमेरु हुए। अनन्तर इनके शिष्य श्री विनयराज गणि हुए। अनन्तर इनके शिष्य श्री शिवसुन्दर वाचकधुर्य हुए। इनके शिष्य श्री देवतिलक उपाध्यायने संवत् १६६२ के कार्तिक मासके शुक्ल पक्षकी शुभ तिथिमें यह पुस्तक ग्रहण की। उन्हें यह पुस्तक श्रीसंघने

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अर्गलपुर (आगरा) में अर्पित की। श्रीसंघने इसे एक पण्डित से प्राप्त की थी। उस समय अकबर का राज्य प्रवर्तमान था।

श्रद्धेय प्रेमीजीने अपनी 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक पुस्तकमें 'आचार्य शुभचन्द्र और उनका समय' शीर्षक लेखमें ज्ञानार्णवमें 'उक्तंच' रूपसे उद्धृत किये गये 'समाकृष्य यदा' इत्यादि दो श्लोकोंको ज्ञानार्णवकी हस्तलिखित प्राचीन प्रतियोंमें देखनेकी प्रेरणा की है। ये दो श्लोक आचार्य हेमचन्द्रके योगशास्त्रके मूलमें पाये जाते हैं। अतः यह बात विचारणीय हो जाती है कि क्या ये दो श्लोक स्वयं आचार्य शुभचन्द्रने योग शास्त्र से लिये हैं, या अन्य किसी टिप्पणकारने पीछे से इन्हें ज्ञानार्णवमें संगृहीत किया है ?

प्रेमीजीकी इस सूचनाकी ओर श्रीयुत पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य का ध्यान गया। पर कारणवशात् वे इस विषय पर कुछ लिख न सके। अतः उनकी प्रेरणासे मैंने ज्ञानार्णव-की उक्त हस्तलिखित प्रतिको देखा। इससे मैंने जो विशेषताएं प्राप्त की हैं, वे क्रमशः नीचे दी जाती हैं—

(१)

यह प्रति वर्तमानमें छपे हुए ज्ञानार्णवसे कहीं अधिक शुद्ध है। बहुत देखने पर क्वचित् भूल नजर आती है। हमने स्वयं व विद्यालयके प्रधान स्नातक भाई अमृतलालजी शास्त्री के साथ इस प्रतिका मुद्रित ज्ञानार्णवसे मिलान किया है। पाठकोंकी जानकारीके लिये उसके कुछ पाठ जो मुद्रित ज्ञानार्णवमें या तो अशुद्ध प्रतीत होते हैं या उनसे कुछ विशेषता रखते हैं नीचे तालिका में दिये जाते हैं।

| पृष्ठ | श्लोक सं० | मुद्रित पाठ | लिखित प्रतिके पाठ |
|---|---|---|---|
| ८ | १६ | योगिभिर्यत् | योगिभिर्याः |
| ९ | २४ | निरूप्य सच्च | निरूप्य स च |
| ११ | ३० | पुंसामपसर्पति | पुंसां नापसर्पति |
| ११ | ३२ | सतामपि च | सतामप्यत्र |
| १२ | ३८ | -राक्षसाक्रान्त- | -राक्षसाक्रान्तं |
| १३ | ३९ | प्रशमं गतः | प्रशमं गताः |
| १५ | ४९ | विमृश्योच्चैः | विमृश्यैवं |
| १६ | २ | त्वं तत्त्वं | स्वतत्त्वं |
| १९ | १७ | अवश्यं यान्ति | अवश्यं यदि |
| २४ | २४ | यद्दत्वा | ये दत्वा |

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

| पृष्ठ | श्लोक सं० | मुद्रित पाठ | लिखित प्रतिके पाठ |
|---|---|---|---|
| २२ | ३५ | यन्न ते सन्ति तद्गृहे | न ते सन्ति जगद्गृहे |
| २३ | ३६ | सद्यं | सद्यः |
| २५ | ४६ | ये चात्र जगती- | ये ये त्रिजगती- |

इसी प्रकार पूरे मुद्रित ज्ञानार्णवमें अशुद्धियां पाई जाती हैं। कहनेको तो इसका प्रकाशन एक साहित्यिक संस्थासे हो रहा है, पर अगली सब आवृत्तियाँ प्रथमावृत्तिकी नकल-मात्र हैं। योग के ऊपर एक तो जैन ऋषियों ने कुछ लिखा नहीं और लिखा भी है तो बहुत कम। दोनों सम्प्रदायोंमें इस विषय के मुश्किलसे दो तीन ग्रन्थ मिलते हैं। तिस पर दिगम्बर सम्प्रदायमें तो ज्ञानार्णव ही इस विषयका सब से पहला ग्रन्थ है। इसे सबसे अन्तिम भी कह सकते हैं; क्योंकि न तो इसके पहले लिखे गये इस विषयके किसी अन्य ग्रन्थकी ही उपलब्धि होती है और न इसके बाद ही किसी ने इस विषय पर लिखा है।

(२)

यह तो हुई मुद्रित ग्रन्थमें स्खलनकी बात। अब हमें यह देखना है कि इस हस्तलिखित प्रतिसे हमें क्या यह संकेत मिलता है कि ज्ञानार्णवमें जो 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत वाक्य पाये जाते हैं उनका संग्रह स्वयं ग्रन्थकार ने नहीं किया। आगे इसी का विचार करते हैं—

(१) मुद्रित ज्ञानार्णव के पृष्ठ ९५ पर एक श्लोक आया है जो निम्न है—

'एको द्विधा त्रिधा जीवः चतुःसंक्रान्तिपञ्चमः।
षट्कर्म (क्रमः) सप्तभङ्गोऽष्टाश्रयो (वो) नवदशस्थितिः' ॥ १८, ६।

इसका अनुवाद पं० जयचन्द्रजी ने निम्न प्रकार किया है—

'जीव सामान्य चैतन्यरूपसे एक प्रकार के हैं। त्रस, स्थावर भेदसे दो प्रकारके हैं; एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय भेदसे तीन प्रकारके हैं। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी भेदसे चार प्रकारके हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय भेदसे पांच प्रकारके हैं। पांच स्थावर और एक त्रस इस प्रकारके भेद करनेसे छह प्रकारके हैं। पांच स्थावर, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय ऐसे भेद करनेसे सात प्रकारके हैं। पांच स्थावर विकलेन्द्रिय, संज्ञी, असंज्ञी ऐसे आठ प्रकारके हैं। पांच स्थावर तीन विकलेन्द्रिय एक सकलेन्द्रिय ऐसे नव प्रकार हैं और पांच स्थावर तीन विकलेन्द्रिय और संज्ञी तथा असंज्ञी ऐसे भेद करनेसे दश प्रकार भी हैं।.....'

उक्त श्लोकका यह अनुवाद पण्डितजीने अपनी बुद्धिसे किया है सो बात नहीं है, किन्तु उसका आधार मूल में विद्यमान है जो इस लिखित प्रतिमें भी पाया जाता है—यथा—

'चैतन्यरूपः १। त्रसस्थावर २। एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय सकलेन्द्रिय ३। एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय संज्ञी असंज्ञी ४। एकेन्द्रियादि पंचेन्द्रियपर्यन्तम् ५। पंच स्थावर त्रसश्च ६।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पंच स्थावर विकलेन्द्रिय सकलेन्द्रिय ७। पंच स्थावर विकलेन्द्रिय संज्ञी असंज्ञी ८। सकलेन्द्रिय .विकलत्रयं पंच स्थावर ९। पंच स्थावर विकलत्रयं संज्ञी असंज्ञी १०।'

ज्ञानार्णवका उक्त श्लोक 'एक्को चेव महप्पो' इत्यादि दो गाथाओंका संक्षिप्त रूप है। ये दोनों गाथाएं और उनका अर्थ धवला प्रथम पुस्तक पृष्ठ १०० पर देखिये। ज्ञानार्णवके कर्त्ताके सामने इस श्लोकको लिखते समय अवश्य ही उक्त दो गाथाएं रहीं हैं। यह बात उक्त श्लोकके 'चतुः संक्रान्ति' 'षट्क्रमः' व 'सप्तभंगो' पदोंसे प्रकट हो जाती है। मालूम होता है कि उक्त श्लोक की परम्परासे अनभिज्ञ किसी टिप्पणकारकी यह करामात है। टिप्पणकारने उसे पहले हासिया में लिखा होगा। तदनन्तर वह लेखकोंकी कृपासे मूलका अंग बन गया।

(२) मुद्रित प्रति के पृष्ठ १९४ पर मूलरूपसे 'या निशा सर्वभूतेषु' इत्यादि श्लोक छपा है जो गीता के दूसरे अध्यायका ६९ वां श्लोक है। मालूम होता है कि यह श्लोक ज्ञानार्णवके 'यस्यां निशि जगत् सुप्तं' इस श्लोकके अनुरूप होनेसे किसी टिप्पणकारने उसे हंसियामें संगृहीत किया होगा और आगे जाकर वह मूलमें ही सम्मिलित हो गया। मुद्रित प्रतिमें 'यस्यां निशि' और 'या निशा' ये दोनों श्लोक क्रमशः ३६ और ३७ नम्बर पर दर्ज हैं। किन्तु इस हस्तलिखित प्रतिमें इनका नम्बर ३५ और ३७ है। अधिकतर यह क्रम भंग ऐसे ही स्थलों पर होता है, जहां पर कोई नई चीज पीछे से जोड़ी जाती है। यदि लेखक समझदार हुआ तो वह यथास्थान उसे निबद्ध कर देता है। और यदि केवल लेखक ही हुआ तो वह आगे पीछे भी उसे निबद्ध कर सकता है।

(३) 'समाकृष्य यदा' इत्यादि दो श्लोक जो मुद्रित ज्ञानार्णवके पृष्ठ १८६ पर 'उक्तं च ग्रन्थान्तरे' रूपसे छपे हैं, वे इस लिखित प्रति के मूलमें नहीं हैं। किसी टिप्पणकारने उन्हें हांसियामें लिखा है और अगले दो श्लोकोंके जो क्रम नम्बर दिये हैं वे इन पर डाल दिये हैं। किन्तु प्रारम्भमें 'उक्तं च' नहीं लिखा है। इनके विषयमें एक बात और ध्यान देने योग्य है कि मुद्रित ज्ञानार्णवमें ये श्लोक नम्बर ९ के बाद निबद्ध हैं किन्तु इसमें इनका निर्देश नम्बर ३ के बाद किया है। मालूम होता है कि किसी टिप्पणकारने हांसियामें ही इनका संकलन किया होगा और क्रमशः वे ग्रन्थके अंग बन गये।

ये दोनों श्लोक योगशास्त्रके हैं जिनको वहांसे अलग नहीं किया जा सकता। किन्तु ज्ञानार्णवमें इनके पाये जानेसे यह अनुमान करना कि स्वयं ग्रन्थकारने इनका संकलन किया होगा, गलत है; क्योंकि ज्ञानार्णवकार इनका तभी 'उक्तं च' रूपसे संकलन कर सकते थे जब इनसे उनके बतलाये हुए अर्थ की पुष्टि होती। किन्तु यह बात नहीं है, यह बात ज्ञानार्णव

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

और योगशास्त्रमें बतलाये गये पूरकके लक्षणसे ही स्पष्ट हो जाती है। ज्ञानार्णवमें पूरकका लक्षण निम्न प्रकार बतलाया है—

द्वादशान्तात् समाकृष्य यः समीरः प्रपूर्यते।
स पूरक इति ज्ञेयो वायुविज्ञानकोविदैः ॥२९।४॥

अर्थ—'द्वादशान्त कहिये तालुवेके छिद्रसे अथवा द्वादश अंगुल पर्यन्तसे खैंच कर पवनको अपनी इच्छानुसार अपने शरीरमें पूरण करै, उसको वायुविज्ञानी पंडितोंने पूरक पवन कहा है॥' (पं० जयचन्द्रजी)

योगशास्त्रमें पूरकका लक्षण निम्न प्रकार बतलाया है—

'समाकृष्य यदापानात् पूरणं स तु पूरकः।'

अर्थ—बाहरसे वायुको खींचकर अपान द्वारसे पेटमें भरनेका नाम पूरक है।

इस प्रकार ज्ञानार्णवसे योगशास्त्रके पूरकके लक्षणमें भेदके रहते हुए भी इनका संकलन ज्ञानार्णवमें किया गया; इसीसे मालूम होता है कि इनका संकलन किसी दूसरेने किया होगा।

दूसरे इन दो श्लोकोंमें ज्ञानार्णवसे योगशास्त्रमें जो पाठ भेद पाया जाता है वह बड़े महत्त्वका है। इससे तो योगशास्त्रके द्वारा माने गये पूरकके लक्षणमें ही अन्तर पड़ जाता है। योगशास्त्रके पूरकका लक्षण तो हम ऊपर बतला ही आये हैं। योगशास्त्रके श्लोकका वह पाठ परिवर्त्तित होकर ज्ञानार्णवमें इस प्रकार हो गया है—

समाकृष्य यदा प्राणधारणं स तु पूरकः।

क्या यह 'यदापानात् पूरणं' के स्थानमें 'यदा प्राणधारणं' संशोधन स्वयं ज्ञानार्णवकारने किया होगा? यदि नहीं तो फिर यह कहना कि इनका संग्रह स्वयं ज्ञानार्णवकारने किया होगा, किसी भी हालतमें संगत नहीं है। वास्तवमें इस संशोधनसे श्लोककी आत्मा ही नष्ट हो गई। मालूम तो यही होता है कि किसी टिप्पणकारकी ही यह करामात है। उसने सोचा होगा कि ज्ञानार्णवमें बतलाये हुए पूरकके पक्षमें यह श्लोक तो बैठता नहीं; अतः परिवर्तन कर देना चाहिये। और इस प्रकार उसकी अदूरदर्शिताने मूल श्लोकका यह रूप ला उपस्थित किया।

इस प्रकार ऊपर जो तीन प्रमाण उपस्थित किये हैं, उनसे ज्ञात होता है कि ज्ञानार्णवमें 'उक्तं च' रूपसे पाये जाने वाले श्लोकों का संकलन स्वयं ज्ञानार्णवकारने नहीं किया होगा। किन्तु पहले उनका संकलन टिप्पणकारोंने हांसियामें टिप्पणरूपसे किया होगा और कालान्तरमें लेखकोंके प्रमादसे वे ग्रन्थके अंग बन गये। अतः ज्ञानार्णवमें 'उक्तं च' रूपसे पाये जाने-वाले श्लोकोंके आधारसे ग्रन्थकर्त्ताके समयका निर्णय करना युक्त नहीं है।

Ac. Gunratnasuri MS　　Jin Gun Aradhak Trust

(३)

अब हम कुछ ऐसे प्रमाण उपस्थित करते हैं जिनसे ऐतिहासिकोंको ग्रन्थकर्त्ताके समयके निर्णय करनेमें थोड़ी-बहुत सहायता मिल सकती है।

आचार्य शुभचन्द्रने ग्रन्थके प्रारम्भमें समन्तभद्र, देवनन्दि, भट्टाकलंक और जिनसेन इन चार आचार्योंकी स्तुति की है इससे स्पष्ट है; कि शुभचन्द्र इनके बादमें हुए होंगे, पर वे कब हुए इसीका निश्चय करना शेष है।

यह तो हम ऊपर ही बतला आये हैं कि ज्ञानार्णवमें जो 'उक्तं च' रूपसे श्लोक पाये जाते हैं उनके आधारसे शुभचन्द्रके समयका निर्णय करना ठीक नहीं है, अतः हम इस प्रक्रियाको छोड़कर अन्य प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

(१) ज्ञानार्णवमें 'जिनसेनकी स्तुति करते हुए उनके वचनोंको त्रैविद्यवन्दित कहा गया है। त्रैविद्य एक उपाधि रही है जो सैद्धान्तिक या सिद्धान्त-चक्रवर्तीके समान सिद्धान्त-शास्त्रके ज्ञाताओंको मिलती रही है। इससे मालूम तो यही होता है कि ज्ञानार्णवके कर्त्ता इसी परम्परामें हुए हैं। इस परम्परामें ऐसे अनेक शुभचन्द्र नामवाले विद्वान् मिलते हैं। एक वे शुभचन्द्र हैं जिन्हें धवलाकी प्रति समर्पित की गई थी। इनका स्वर्गवास शक सम्वत् १०४५ में हुआ था। एक शुभचन्द्र देवकीर्ति पण्डितदेवके शिष्य हो गये हैं। इनको त्रैविद्य-देवकी उपाधि भी थी। इनका काल शक बारहवीं शताब्दिका उत्तरार्ध समझा जाता है। एक शुभचन्द्रका उल्लेख श्रद्धेय प्रेमीजीने 'आचार्य शुभचन्द्र और उनका समय' शीर्षक लेखमें किया है। ये तेरहवीं शताब्दिके मध्यमें हो गये हैं। इन्हें स्वयं ज्ञानार्णवकी प्रति समर्पितकी गई थी। खोज करने पर ऐसे शुभचन्द्र नाम वाले और भी अनेक आचार्य मिलेंगे। किन्तु इन सबमेंसे यह निश्चित करना कठिन है कि ज्ञानार्णवके कर्ता कौन शुभचन्द्र हुए ?

ज्ञानार्णवके ३६ वें प्रकरणमें लोकका वर्णन आया है। उसमें बतलाया है कि यह लोक नीचेसे मध्य तक सात राजु और मध्यसे अग्र तक सात राजु ऊंचा है। तथा अधोलोकके पास सात राजु, मध्य लोकके पास एक राजु, ब्रह्मकल्पके पास पांच राजु और लोकाग्रमें एक राजु विस्तारवाला है। यथा—

अस्य प्रमाणमुन्नत्या सप्त सप्त च रज्जवः।
सप्तैका पञ्च चैका च मूलमध्यान्तविस्तरे ॥९।३६॥

इसमें स्पष्टतः राजवातिककी मान्यताकी पुष्टिकी गई है। मालूम होता है कि ज्ञानार्णवके कर्त्ता उस समय हुए हैं जब सिद्धान्त-शास्त्रानुसार वीरसेन स्वामीके द्वारा प्रस्थापित की गई लोककी मान्यताका अधिक प्रचार नहीं हुआ था। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ये जिनसेनसे कुछ ही काल बाद हुए होंगे।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(२) मुद्रित ज्ञानार्णवमें यशस्तिलकचम्पूके श्लोक उद्धृत हैं। यदि इन श्लोकोंको स्वयं शुभचन्द्रने उद्धृत किया होता तो वे चम्पूकार का स्मरण भी करते। क्या सबब है कि वे जिनसेन तकके आचार्योंका नामोल्लेख करके ही रह गये ?

मैंने गुणदोष विचार नामक उस प्रकरणको ध्यानसे देखा है जहां यशस्तिलक चम्पूके 'ज्ञानहीने' इत्यादि तीन श्लोक उद्धृत हैं। वास्तवमें 'वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्' इत्यादि २२ नम्बरके श्लोकसे ही प्रकरण स्खलित प्रतीत होता है। आप इस श्लोकके बादका सब प्रकरण अलग कर दीजिये और तदनन्तर 'यस्य प्रज्ञा' इत्यादि २९ वें नम्बरवाले श्लोकको पढ़िये आपको एकदम संगति प्रतीत होगी। मेरा तो ख्याल है कि २२ वें और २९ वें नम्बरके बीच में जितने भी श्लोक हैं वे सब प्रक्षिप्त हैं। मेरी प्रार्थना है कि विद्वान् पाठक इस सूचनाका ठीक तरह उपयोग करें। यह सब तो रत्नत्रय नामक १८ वें प्रकरणमें लिखने लायक था। यहां तो उसकी कोई आवश्यकता ही न थी। इससे प्रतीत होता है कि ज्ञानार्णवके कर्त्ताके समक्ष यशस्तिलकचम्पू नहीं था और न उन्होंने स्वयं इसका उपयोग ही किया है।

(३) समन्तभद्र आदि आचार्योंकी स्तुति करनेके बाद ज्ञानार्णवकारने योगीन्द्रसेवित मार्गमें अपनी आत्माको लगानेकी सूचना की है। मालूम होता है यहां शुभचन्द्र आचार्यने 'योगीन्द्र' पदका श्लेषमें प्रयोग किया है जिससे परमात्मप्रकाशके कर्ता योगीन्द्रदेवका बोध होता है। बहुत सम्भव है कि शुभचन्द्र आचार्य योगीन्द्रदेवके समकालीन हों और ज्ञानार्णवके पहले परमात्म प्रकाशकी रचना हो चुकी हो, जिससे ज्ञानार्णवके बनानेमें प्रेरणा मिली हो। यदि यह अनुमान ठीक हो तो कहना होगा कि जिस समय परमात्मप्रकाशके कर्त्ता योगीन्द्रदेवने इस भूतलको अपने वास्तव्यसे सुशोभित किया है वही आचार्य शुभचन्द्रका काल होना चाहिये। उपर्युक्त प्रमाणोंको देखते हुए यह बहुत कुछ सम्भव भी है।

इस प्रकार ज्ञानार्णव और उसके कर्ताके सम्बन्धमें मुझे जो सामग्री उपलब्ध हुई वह मैंने प्रस्तुत की है, आशा है विद्वान् पाठक इसका समुचित उपयोग करेंगे।

---

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

# क्या षट्खंडागम सूत्रकार और उनके टीकाकार वीरसेनाचार्य का अभिप्राय एक ही है ?

[ लेखक—श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०, एल० एल० बी० ]

दिगम्बर सम्प्रदाय के साहित्य में पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यों द्वारा विरचित षट्खंडागम सूत्र सब से प्राचीन, जैन सिद्धान्त का पूर्णतम विवेचन करने वाले एवं सर्वोपरि प्रमाणभूत ग्रन्थ माने जाते हैं। इन सूत्रों की वीरसेनाचार्य द्वारा विरचित एकमात्र धवला टीका उपलब्ध है जिसके कारण यह ग्रन्थरचना धवलसिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है। यह सूत्र और टीकारूप रचना दिगम्बर सम्प्रदाय में पूज्य माने जाने पर भी कोई एक हजार वर्ष से लुप्तप्राय थी और इसकी एकमात्र ताड़पत्रीय प्रति कर्नाटक देश के मूड़बिद्री नामक स्थान पर सुरक्षित बच रही थी। सौभाग्य से गत बीस वर्ष के भीतर इस रचना की प्रतिलिपियां जिज्ञासुओं को उपलब्ध हो गईं और गत पांच छह वर्ष से इनका क्रमशः प्रकाशन भी हो रहा है। इन ग्रन्थों के अवलोकन से जैन सिद्धान्त के अन्तरंग की अनेक व्यवस्थाओं पर गहरा प्रकाश पड़ रहा है और अनेक विचारणीय बातें सम्मुख आ रहीं हैं। यहां हमें इनमें से एक ऐसी ही महत्वपूर्ण व्यवस्था पर गम्भीरता से विचार करना है।

षट्खंडागम के प्रथमखंड 'जीवट्ठाण' में सत्, संख्या, क्षेत्र आदि प्ररूपणाओं में गुणस्थान व मार्गणास्थानों के प्रतिपादन के लिये मनुष्यों के चार भेद किये हैं—मनुष्य, पर्याप्त मनुष्य, मनुष्यनी और अपर्याप्त मनुष्य। सत्प्ररूपणा के सूत्र ८९ से ९३ तक के पांच सूत्रों में इनके गुणस्थान बतलाये गये हैं। सूत्र ८९ में मनुष्यमात्र की पर्याप्त व अपर्याप्त अवस्थामें मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, और असंयत सम्यग्दृष्टि इन तीन गुणस्थानों का, एवं सूत्र ९० में उनकी पर्याप्त अवस्था में सम्यग्मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत आदि समस्त गुणस्थानों का प्रतिपादन किया गया है। सूत्र ९१ में ये ही चौदहों गुणस्थान पयाप्त मनुष्यों में सम्भव बतलाये गये हैं। इसके आगे सूत्र ९२ और ९३ में मनुष्यनियों के गुणस्थान कहे गये हैं। जो इस प्रकार हैं :—

**मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठिट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥९२॥**

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

**सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजद-संजदट्ठाणे[1] णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥**

अर्थात्—मनुष्यनियों में मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थान तो उनकी पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों अवस्थाओं में संभव हैं, किन्तु शेष के समस्त गुणस्थान उनकी पर्याप्त अवस्था में ही हो सकते हैं।

यहां स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मनुष्यनी के चौदहों गुणस्थानों के प्रतिपादन से क्या सूत्रकार का अभिप्राय द्रव्य स्त्री की मुक्ति के पक्ष में है? यही प्रश्न धवलाकार वीरसेन स्वामी के सम्मुख उपस्थित हुआ है और उन्होंने अपनी टीका में इस प्रकार शंका-समाधान किया है—

**१ शंका**—इस आर्षवाक्यसे तो द्रव्यस्त्रियों के निर्वाण की सिद्धि होती है?

**समाधान**—नहीं होती, क्योंकि स्त्रियों के वस्त्र सहित रहने से उनके अप्रत्याख्यान अर्थात् संयमासंयम गुणस्थान होता है, एवं पूर्ण प्रत्याख्यान रूप संयम की उत्पत्ति नहीं होती।

**२ शंका**—वस्त्र सहित होते हुए भी उनके भाव संयम होने में क्या विरोध आता है?

**समाधान**—उनके भाव संयम भी नहीं हो सकता, क्योंकि वस्त्रादि का ग्रहण भाव असंयम के बिना हो हो नहीं सकता।

**३ शंका**—तब फिर उनमें चौदहों गुणस्थान किस प्रकार घटित होंगे?

**समाधान**—भावस्त्री विशिष्ट मनुष्यगति में चौदहों गुणस्थान मान लेने में कोई विरोध नहीं आता।

**४ शंका**—भाववेद तो बादरकषाय अर्थात् नौवें गुणस्थान के ऊपर होता ही नहीं है, अतएव भाववेद सहित चौदहों गुणस्थान कैसे संभव हैं?

**समाधान**—यहां वेद की प्रधानता नहीं है, किन्तु गति ही प्रधान है; और गति कुछ बादरकषाय से आगे नष्ट नहीं होती।

**५ शंका**—इस प्रकार वेद विशेषण युक्त गति में तो चौदह गुणस्थान संभव नहीं हुए?

**समाधान**—न होने दो, किन्तु विशेषण के नष्ट हो जाने पर भी उपचार से उसी संज्ञा को धारण करनेवाली मनुष्य गति में चौदहों गुणस्थान मान लेने में कोई विरोध नहीं आता।

---

१—यहां यद्यपि उपलब्ध प्रतियों में 'संजदासंजदट्ठाणे' ही पाठ है, उसके आगे 'संजद' इतना पाठ नहीं है, तथापि ग्रन्थ के सम्पादकों ने सूत्र की धवला टीका एवं अन्य प्ररूपणाओं पर से यह निश्चय किया है कि यहां 'संजद' इतना पाठ छूट गया है, वह होना अवश्य चाहिए।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

इन शंका-समाधानों की जड़ में निम्न मान्यताएं दिखाई देती हैं :—

१ वस्त्र त्याग के विना भावसंयम हो ही नहीं सकता। वस्त्रग्रहण का असंयम के साथ अविनाभावी सम्बन्ध है।

२ स्त्रियां कभी वस्त्र का त्याग नहीं कर सकतीं, जिससे उनके न कभी द्रव्यसंयम हो सकता और न भावसंयम। अतएव वे पांचवें गुणस्थान से ऊपर जा ही नहीं सकतीं; और निर्वाण भी प्राप्त नहीं कर सकतीं।

३ किन्तु पुरुषों में स्त्रीवेद का उदय हो सकता है और वे चौदहों गुणस्थान प्राप्त कर के मोक्ष जा सकते हैं। ऐसे ही मनुष्यों को ध्यान में रखकर सूत्रकार ने मनुष्यनियों में चौदहों गुणस्थानों का प्रतिपादन किया है।

४ यद्यपि चौदहों गुणस्थानों तक वेद की सत्ता नहीं रहती, तथापि पहले वेद के सद्भाव में जिन्हें मनुष्यनी कहा, उन्हें ही वेद के अभाव में उपचार से उसी नाम से सम्बोधित किया है। और यह इस कारण सम्भव है कि यहां वेद की प्रधानता न होकर गति की प्रधानता है।

ये मान्यताएं कहां तक सूत्रकार सम्मत हैं यह बात विचारणीय है। षट्खंडागम सूत्रों में जहां तक हम देख सके हैं, इन मान्यताओं का कोई उल्लेख या स्पष्ट आधार हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। प्रथम मान्यता के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि अन्य दिगम्बरीय प्रामाणिक ग्रन्थों में द्रव्यलिंगी और भावलिंगी श्रमणों की अलग अलग सत्ता स्वीकार की गई है। स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने भाव पाहुड में ऐसे भाव श्रमणों का उल्लेख किया है। ऐसे ही एक शिवभूति भाव से विशुद्ध होकर केवलज्ञानी हुए (भा०पा०५३)। व शिवकुमार नामक भाव श्रमण संसार से पार उतर गये (भा०पा०५१)। शिवार्य ने अपनी भगवती आराधना में मुनियों के उत्सर्ग मार्ग के अतिरिक्त अपवाद मार्ग का भी विधान किया है जिसके अनुसार विशेष परिस्थिति में मुनि वस्त्र धारण भी कर सकता है। (भा० आ० गाथा ७९ आदि)। तत्त्वार्थ सूत्रकार उमास्वाति ने जिन पुलाकादि पांच प्रकार के निर्ग्रन्थों का उल्लेख किया है, उनमें उन्होंने लिंग भेद की अपेक्षा विचार करने का भी आदेश दिया है (त० सू० ९, ४६-४७)। व सर्वार्थसिद्धिकार देवनन्दि पूज्यपाद ने अपनी टीका में कहा है कि "लिंग दो प्रकार का होता है—द्रव्य लिंग और भाव लिंग। भाव लिंग की अपेक्षा तो पांचों ही निर्ग्रन्थ लिंगी हैं, किन्तु द्रव्य लिंग की अपेक्षा उनमें विकल्प हैं।[1] इस स्थल पर श्रुतसागर जैसे कट्टर दिगम्बरी टीकाकार ने भी लिखा है कि "कुछ महर्षि जो असमर्थ होते हैं वे शीतकालादि में कम्बल, कौशेयादि ग्रहण कर लेते हैं। कुछ मुनि शरीर में उत्पन्न दोषों से लज्जित हुए वस्त्र ग्रहण

१ लिंगं द्विविधं—द्रव्यलिंगं भावलिंगं चेति। भावलिंगं प्रतीत्य पंच निर्ग्रन्था लिंगिनो भवन्ति। द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः (स० सि० ९, ४७)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कर लेते हैं ऐसा भगवती आराधना में उक्त अभिप्राय से अपवाद रूप जानना चाहिए।[1]" इस प्रकार के अनेक उल्लेखों के प्रकाश में धवलाकार का यह कथन कि वस्त्र ग्रहण भाव असंयम का अविनाभावी है कहां तक ठीक है, यह विचारणीय है।

२ यदि पुरुष वस्त्र धारण कर के भी भाव संयमी हो सकते हैं तो स्त्रियों के परिमित वस्त्र धारण करने पर भी संयम की उत्पत्ति में बाधा क्यों आना चाहिए? भगवती आराधना व मूलाचार में जिस प्रकार मुनियों का आचार बतलाया है उसी प्रकार आर्यिकाओं का भी। मूलाचार में मुनियों को विरत और आर्यिकाओं को विरती कहा है। मुनियों के हैं 'गणी' तो आर्यिकाओं के भी 'गणिनी' हैं। सामाचार अधिकार के अन्त में तो वट्टकेरिने यहां तक कहा है कि 'इस प्रकार चरित्र का जो भी साधु व आर्यिका पालन करतीं हैं वे जग में पूजा, कीर्त्ति और सुख पाकर सिद्ध होते हैं।[2] वस्त्रमात्र के ग्रहण होने पर भी भाव संयम द्वारा मुक्ति प्राप्ति के उल्लेख हम ऊपर देख ही चुके हैं। तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी लिंग की अपेक्षा सिद्धों में विकल्प करने का आदेश किया है (त० सू० १०, ९)। और सर्वार्थसिद्धिकार ने उस स्थल पर स्पष्ट कहा है कि निर्ग्रन्थ व सग्रन्थ लिंग से सिद्धि होती है।[3] यहां श्रुतसागरजी ने इस प्रकार समाधान किया है कि "पूर्व में निर्ग्रन्थ था, पश्चात् किसी ने उपसर्ग से आभरणादिक पहना दिये, जैसे कि तीन पाण्डव आभरणों सहित मोक्ष गये। इस प्रकार पाण्डवादि के समान ग्रन्थता उपसर्ग के वश से समझना चाहिए।" किन्तु यह समाधान सन्तोषकारक नहीं है। जब भावश्रमण की द्रव्यलिंग के विना मुक्ति मान ली गई, एवं पांचों निर्ग्रन्थों में भी द्रव्यलिंग की अपेक्षा विकल्प स्वीकार कर लिया गया, तब सग्रंथ लिंग से मुक्ति स्वीकार करने में उक्त कल्पना की आवश्यकता नहीं रहती।

यथार्थतः यदि स्त्रियों में संयमासंयम से ऊपर का गुणस्थान सम्भव ही न माना जाय तो श्राविका संघ से आर्यिका संघ की पृथक् व्यवस्था बनती ही नहीं है। जिस प्रकार पांचवें गुणस्थान तक के पुरुष, चाहे वे क्षुल्लक-ऐलक ही क्यों न हो जांय, श्रावक ही माने जाते हैं, मुनि नहीं; उसी प्रकार उक्त गुणस्थान तक की स्त्रियों का समावेश श्राविका संघ में ही होगा। उससे ऊपर आर्यिका संघ की पृथक् व्यवस्था तभी स्वीकार की जा सकती है जब उनमें पांचवें से ऊपर के गुणस्थानों की उत्पत्ति मानी जाय।

१ द्रव्यलिंगं प्रतीत्येति तर्कि! केचिदसमर्था महर्षयः शीतकालादौ कंबलशब्दवाच्यं कौशेयादिकं गृह्णन्ति, केचिच्छरीरे उत्पन्नदोषाल्लज्जितत्वात्तथा कुर्वन्तीति व्याख्यानमाराधनाभगवती-प्रोक्ताभिप्रायेणापवादरूपं ज्ञातव्यम् (स० सि० ९, ४७ पर श्रुतसागरी टीका)।

२ एवं विधाणचरियं चरंति जे साधवो य अज्जाओ।
ते जगपुज्जं कित्तिं सुहं च लद्धूण सिज्झंति (मू० सा० अ० १९६)

३ निर्ग्रन्थलिंगेन सग्रन्थलिंगेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वनयापेक्षया। (स०सि० १०, ९)। यहां भूतनय से अभिप्राय सिद्ध होने से पूर्व की अवस्था से है। सिद्ध अवस्था को प्रत्युत्पन्न नय से प्रकट किया है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

३ तीसरी मान्यता के सम्बन्ध में मुख्यतया दो आपत्तियां उत्पन्न होती हैं। एक तो यह कि पुरुषशरीरी जीव में स्त्री वेद का उदय व स्त्रीशरीरी जीव में पुरुषवेद का उदय सिद्धान्तानुसार घटित नहीं होता। चक्षु, कर्ण, श्रोत्र आदि उपांगों की उत्पत्ति का क्रम यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार जीव के ज्ञानावरण का क्षयोपशम होगा, उसी प्रकार अन्तराय का भी क्षयोपशम होगा और उसी अनुसार अंगोपांग नामकर्म द्वारा उपांगों की पुद्गल रचना होगी। ज्ञानावरणीय व वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से निरपेक्ष अंगोपांग नामकर्म किसी इन्द्रिय की पुद्गल रचना नहीं कर सकता। उसी प्रकार वेदनोकषाय की जिस प्रकृति का उदय होगा उसी के अनुरूप वीर्यान्तराय का क्षयोपशम व अंगोपांग नामकर्म का उदय होगा। पुद्गल विपाकी नामकर्म में वेदोदय की सत्ता विना पुरुष व स्त्री लिंगों की रचना की क्षमता नहीं है, क्योंकि ऐसी पृथक् प्रकृतियां अंगोपांग नामकर्म में हैं ही नहीं। यथार्थतः नामकर्म की कोई भी प्रकृतियां अपने कार्य में सर्वथा स्वतन्त्र व अन्य कर्म निरपेक्ष नहीं हैं। गति का उदय आयुकर्म के अनुसार ही होगा। जाति का उदय मतिज्ञानावरणीय के क्षयोपशम का ही अनुगामी होगा। शरीर, बंधन, संघातादि आयु अनुसार गति का ही अनुसरण करेंगे, इत्यादि। और जिस प्रकार इन्द्रियों के विषय प्रतिनियत हैं उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्यवेद अपने अपने भाववेद से सम्बद्ध है। जिस प्रकार चक्षु इन्द्रियावरण के क्षयोपशम से कर्ण इन्द्रिय उत्पन्न नहीं हो सकती और न कर्ण इन्द्रिय से रूप का ज्ञान हो सकता, उसी प्रकार न स्त्रीवेदोदय से पुरुष लिंग की उत्पत्ति हो सकती और न पुरुषलिंग से स्त्री वेद का अनुभव हो सकता। प्रत्येक वेद अपने अपने उपांग से बंधा हुआ है जिससे उस वेद के सद्भाव में उसी के अनुरूप उपांग में उत्तेजना उत्पन्न होती है। और चूंकि उपांग रचना एक जीवन भर में बदल नहीं सकती, इसीलिये एक पर्याय भर में एक ही वेदोदय संभव माना गया है।

दूसरी आपत्ति यह है कि यदि पुरुष शरीर में स्त्री वेद का एवं स्त्री शरीर में पुरुष वेद का सद्भाव स्वीकार ही किया गया और भाववेद मात्र की विवक्षानुसार सूत्रकारकृत मनुष्य और मनुष्यनी विभाग माने गये, तो उससे यह व्यवस्था निकलेगी कि जिस प्रकार पुरुषशरीरी स्त्री वेदी जीव मनुष्यनियों में सम्मिलित किये गये, उसी प्रकार स्त्रीशरीरी पुरुषवेदी जीव पर्याप्त मनुष्यों में अन्तर्भूत होंगे और पर्याप्त मनुष्यों के लिये जो गुणस्थानादि व्यवस्थाएं बतलाई गई हैं, वे उन्हें लागू होंगी। इस प्रकार यह तीसरी मान्यता आगम परम्परानुसार चिन्तनीय है।

४ धवलाकार ने उक्त प्रकरण में जो चौथी और पांचवी शंकाओं का समाधान किया है उससे तो उनके समस्त प्रतिपादन की कचाई प्रकट हो जाती है। जिस वेद की अपेक्षा से मनुष्य-मनुष्यनी विभाग कल्पित किये उसकी सत्तामात्र के अभाव में भी उस विभाग के आधार से दशवें आदि गुणस्थानों का प्रतिपादन युक्ति संगत नहीं ठहरता।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

यहां उपचार से मनुष्यनी संज्ञा मानना और विशेषण के छूट जाने पर भी भूतपूर्व न्याय से कथन किये जाना बतलाकर धवलाकार ने अपनी पूर्वोक्त मान्यताओं की भले ही कुछ रक्षा कर ली हो, किन्तु उन्होंने सूत्रकार की सारी व्यवस्था को बड़ी शिथिल और सदोष प्रमाणित कर दी। मुख्य कथन में जहां उपचार और भूतपूर्व न्यायादि से काम लेना पड़ा वहां सिद्धांत की जड़ कमजोर ही प्रकट होगी। यदि वेद की प्रधानता छोड़कर गति की ही प्रधानता से कथन करना था तो वेद के अनुसार यहां भेद ही क्यों किये? यथार्थतः प्रस्तुत प्रकरण में तो योग मार्गणा चल रही थी और काययोग के सिलसिले में इन विभागों के अनुसार कथन किया गया है। मनुष्य गति की प्रधानता से तो गति मार्गणा में ऊपर सूत्र २७ में गुणस्थान प्ररूपण किया जा चुका है। वेदमार्गणानुसार प्ररूपण आगे सूत्र १०१ आदि में किया गया है और वहां अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक ही वेदों के आधार से कथन है, उससे आगे के गुणस्थानों को अपगतवेद कहा है। धवलाकार का समाधान कितना असंतोषजनक है यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। मानलो कुल विद्यार्थियों के उनकी योग्यतानुसार हमने दो विभाग किये एक वर्ग में नौ पुस्तकें सीखने की योग्यता स्वीकार की और दूसरे वर्ग में उससे आगे शेष पांच पुस्तकों की। किन्तु प्रथम वर्ग के पाठ्य क्रम में हमने चौदहों पुस्तकें रख दी और जब किसी ने पूछा कि क्या ये चौदहों पुस्तकें इस वर्ग में पठनीय हैं, तब कहा, नहीं, किन्तु इस वर्ग की योग्यता का ख्याल न कर के विद्यार्थी मात्र की योग्यता की दृष्टि से ये पाठ्य पुस्तकें रख दी गई हैं। पर यदि वह पूछे कि जब आप को विद्यार्थी मात्र का ख्याल था तो इसे प्रथम वर्ग का पाठ्यक्रम क्यों कहा तो इसका हमारे पास क्या उत्तर है?

इस प्रकार यथार्थतः यहां भाववेद की विवक्षा कोई सार्थकता नहीं रखती और न उसे छोड़कर गति की प्रधानता सिद्ध होती।

इन आपत्तियों के प्रकाश में टीकाकार का स्पष्टीकरण सूत्रकार के सैद्धान्तिक निरूपण के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। पर यदि हम यहां पर्याप्त मनुष्य से द्रव्य पुरुष और मनुष्यनी से द्रव्य स्त्री का अभिप्राय ग्रहण करें तो उक्त कोई दोष यहां उत्पन्न नहीं होते। अतएव पाठक इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर सूत्रकार के निरूपण एवं कर्म सिद्धान्त के वास्तविक तत्त्वों के अनुसार विचार करने की कृपा करें।

---

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

# जिनकल्प और स्थविरकल्प पर श्वे० साधु श्रीकल्याणविजयजी

(ले०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, डी० एल०, एम० आर० ए० एस०)

(क्रमागत)

वस्तुतः श्वेताम्बर-सम्प्रदायके जन्म-समय और उसके बाद भी दिगम्बर सम्प्रदाय अपने प्राचीन नाम 'निर्ग्रन्थ' से ही उल्लेखित किया जाता रहा। मथुरा कंकालीटीला के शिला लेखों में निर्ग्रन्थ आर्हतों (जैनों) का उल्लेख मिलता है! उधर अहिच्छत्र के स्तंभलेख में इन्द्रनन्दि आचार्य और पहाड़पुर के ताम्रपत्र (सन् ४७१ ई०) में निर्ग्रन्थ-संघके आचार्य गुहनन्दि का उल्लेख है। 'नन्दि' अन्त नामवाले आचार्य प्रायः नन्दिसंघ में हुये हैं। नन्दिसंघ की पट्टावली में नं० १२ पर गुणनन्दि आचार्य का समय सं० ३५८ लिखा है।[1] यह समय आचार्य गुहनन्दि के समय के लगभग पहुंचता है। गुहनन्दि गुणनन्दि का विकृत पाठ हो सकता है। उस समय बंगाल में दिगम्बरों का बाहुल्य था, यह बात फाह्यान और हुएनसंग के यात्रा-विवरण से स्पष्ट है। अत एव यह आचार्य मूलसंघ—निर्ग्रन्थ संघ के प्रतीत होते हैं। ई० पांचवीं शतीका एक ताम्रपत्र कादम्बवंश के राजा श्रीविजय शिवमृगेश वर्मा का मिला है। उसमें लिखा है कि उन कदम्ब-नरेश ने कालवंगनामक ग्राम का एक भाग अर्हत् भगवान के लिये, दूसरा भाग श्वेतपट (श्वेताम्बर) महाश्रमण संघ के लिये और तीसरा भाग 'निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ' के उपभोग के लिये दान किया था।[2] यहां निर्ग्रन्थ नाम से स्पष्टतः दिगम्बर जैन संघ अभिप्रेत है; क्योंकि इसमें श्वेताम्बर संघ का उल्लेख 'श्वेतपट' नाम से पृथक् हुआ ही है और उधर तामिल साहित्य के प्राचीन महाकाव्यों से प्रमाणित है कि कर्णाटक आदि दक्षिण भारत के देशों में भी दिगम्बर जैन मुनिगण निर्ग्रन्थ नाम से प्रसिद्ध थे। अतः यह साक्षिता प्राचीन निर्ग्रन्थ परम्परा को ही दिगम्बर प्रमाणित करती है—इसीलिये दिगम्बर जैनों ने अपने संघ को ठीक ही 'मूल-संघ' कहा है। अत एव श्रीकल्याणविजय जी की मान्यता तथ्यहीन ठहरती है।

---

१ जैन-सिद्धान्त-भास्कर, भा० १ कि० ४ पृ० ७८

२ "कदम्बानां श्रीविजयशिवमृगेशवर्म्मा कालवङ्गग्रामं त्रिधा विभज्य दत्तवान् अत्र पूर्व्वमर्हच्छाला परमपुष्कलस्थाननिवासिभ्यः भगवदर्हन्महाजिनेन्द्रदेवताभ्य, एको भागः द्वितीयोर्हत्प्रोक्तसद्धर्म्मकरण-परस्य श्वेतपटमहाश्रमणसंघोपभोगाय तृतीयो निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघोपभोगायेति—"

—जैनहितैषी, भा० १४ पृ० २२६

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

हाँ, यह बात अवश्य है कि मूल निर्ग्रन्थ (जैन) संघ के अनुयायियों का उल्लेख जब प्राचीन संस्कृत साहित्यकारों ने किया तो उन्होंने उनको 'विवसन'-'दिग्वास'-'दिगम्बर' नाम से सम्बोधा। हम देख चुके हैं कि 'ऋक्संहिता' (१०, १३६-२) में वातवसन मुनियों का उल्लेख है, जो प्रो० वेबर के मतानुसार दि० जैन मुनियों का द्योतक है।[१] 'विष्णुपुराण' में जैन मुनि 'दिगम्बरो मुंडो वर्हिपत्रधरो द्विजः' और जैनधर्म 'दिग्वाससामयं धर्मो' कहा गया है।[२] यह उल्लेख प्रो० जैकोबी के मतानुसार लगभग चौथी या पांचवी शताब्दियों के हैं।[३] हिन्दू 'पद्मपुराण' में भी जैन मुनि को 'योगी दिगम्बरो' लिखा गया है।[४] 'पञ्चतंत्र' (५) में वही 'एकाकी गृहसंत्यक्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः' लिखा गया है। महाकवि दण्डिन् और आचार्य शङ्कर ने भी उनको विवसन्—दिगम्बर बताया है।[५] जहां भी वह जैन उल्लेख करते हैं वहां दिगम्बर जैन मत का नाम लेते हैं। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि ईस्वी प्रारंभिक शताब्दियों से जब संस्कृत भाषा का प्राबल्य हो चला और वैदिकधर्म की उन्नति होने लगी तो निर्ग्रन्थ (जैनी) अपने साधुओं के नग्नभेष के कारण दिगम्बर-दिग्वास नाम से प्रसिद्ध हो गये। यही एक कारण है कि उनका प्राचीन 'निर्ग्रन्थ' नाम धीरे धीरे विलुप्त हो गया और वह केवल ग्रंथों में लिखने की वस्तु रह गया। दक्षिण भारत में जहां दिगम्बर जैनों का प्राबल्य उपरान्त काल तक रहा, वहां दिगम्बर जैनों का सम्बोधन उनके प्राचीन नाम 'निग्रंन्थ श्रमण' से ही होता रहा। उदाहरण-रूप में शैवों के 'तेवारम्' नामक ग्रंथ के उद्धरण उपस्थित किये जा सकते हैं। वैष्णव अल्वर टोंडरदिपोडि के पद्य भी इसी बात के समर्थक हैं।[६] अतः यह माना जा सकता है कि ई० ४ थी-५वीं शती से निर्ग्रन्थ जैनी नग्नता के कारण दिगम्बर नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। इसके पहले वे निर्ग्रन्थ कहलाते थे।

इस विषय में आगे कुछ लिखने के पहले श्रीकल्याणविजयजी के इस मत का खण्डन कर देना भी आवश्यक है कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य छठी शताब्दि के विद्वान् थे। उन्होंने लिखा है 'छठी सदी के विद्वान् कुन्दकुन्द देवनन्दि वगैरह ने प्राचीन परम्परा से मजबूत मोरचा लिया। पहले जो सूत्र, निर्युक्ति आदि प्राचीन आगमों को इनके पूर्वाचार्य मानते आये

---

१ इण्डियन ऐन्टीक्वेरी भा० ३० पृ० २८०

२ विष्णुपुराण, ५/२ और ५/१०

३ *Jacobi.* "……the passage in question is later than the fourth century A. D……."—The VIRA, II. 317

४ पद्मपुराण प्रथम सृष्टि खंड १३ पृ० ३३

५ वीर, वर्ष २ पृ० ३१७—३१८

६ अय्यङ्गर, स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनीज्म, भा० १ पृ० ६८—७१

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

थे। इन्होंने उनका मानना भी अस्वीकार कर दिया और अपने लिये आचार, विचार और दर्शन-विषयक स्वतंत्र साहित्य की रचना की, जिसमें वस्त्रपात्र रखने का एकान्त रूप से निषेध किया।' (पृ० ३०३—४) यह लेख कितना छल से भरा हुआ भ्रामक है, इसे पाठक जरा देखें। जबकि स्पष्ट रूप में श्रीकुन्दकुन्द स्वामी की पूर्वपरम्परा श्वेताम्बरीय परम्परा से भिन्न निर्दिष्ट है, तब यह कैसे संभव हो सकता है कि श्रीकुन्दकुन्द के पूर्वाचार्य वे श्वेताम्बर ऋषि थे जो वस्त्रपात्र का विधान करते थे। दिगम्बर-परम्परा के किसी भी आचार्य ने उनका विधान नहीं किया है? श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने स्पष्टरूप से कहा है कि वह अपने पूर्वाचार्यों के मतानुसार धर्म का निरूपण कर रहे हैं,[1] बल्कि उन्होंने उस समय जो आगम-ग्रंथ उपलब्ध थे उन पर टीका भी रची थी। ऐसी सूरत में श्रीकुन्दकुन्दाचार्य को पूर्व-परम्परा का विरोधी कहना अनर्गल प्रलाप है।

अब पाठक, ज़रा यह देखिये कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्य क्या छठी सदी के विद्वान् थे? श्रीकल्याणविजयजी ने अपने मनोनीत मत की पुष्टि प्रो० पाठक की उन लचर युक्तियों से करना चाही है जिनका निरसन प्रो० चक्रवर्ती और डा० उपाध्ये ने कर दिया है।[2] आप पहले ही इस बात पर जोर देते हैं कि कुन्दकुन्दाचार्य ने 'पञ्चास्तिकायसार' की रचना *शिवकुमार* के लिये की थी, जो प्रो० पाठक के मतानुसार विक्रमी छठी सदी के कदम्बवंशी शिवमृगेश नरेश हैं। किन्तु स्वयं श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने यह कहीं नहीं लिखा है कि उन्होंने शिवकुमार महाराज के लिये कोई ग्रन्थ रचा था।[3] हाँ, टीकाकार जयसेनाचार्य यह बात अवश्य कहते हैं और उस पर से प्रो० चक्रवर्ती ने यह प्रमाणित किया है कि शिवकुमार नरेश पल्लव-वंश के शिवस्कन्द महाराज हो सकते हैं जिनका समय ईस्वी पहली शताब्दि व्यक्त किया गया है। उनका यह समीकरण प्रो० पाठक से कहीं अधिक प्रामाणिक है और विद्वानों को मान्य है। अतः इस आधार से श्रीकुन्दकुन्द का समय ईस्वी प्रथम शताब्दि ठहरता है।

---

१ 'सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥
बारस अंगवियाणं चउदस पुव्वंगविउलवित्थाणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ ॥६२॥ —बोधपाहुड़

२ प्रो० चक्रवर्ती की पञ्चास्तिकायसार की भूमिका व प्रो० उपाध्ये की प्रवचनसार की भूमिका देखो।

३ पंचास्तिकायसार को श्री कुंदकुंद ने प्रवचनभक्ति से प्रेरित होकर मार्ग प्रभावना के लिये रचा था; तथा:—

"मग्गप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।
भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं ॥१७३॥"

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

दूसरा प्रमाण श्रीकल्याणविजयजी ने पं० नाथूरामजी प्रेमी के आधार से उपस्थित किया है कि श्रीकुन्दकुन्द ने 'लोकविभाग' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जिसे सर्वनन्दि आचार्य ने संभवतः वि० सं० ५१२ में रचा था; परंतु प्रेमीजी के इस मत का खंडन पं० युगलकिशोरजी मुख्तार ने कर दिया है। वस्तुतः 'लोयविभागेसु' बहुवचन पद का प्रयोग लोकानुयोग-विषयक ग्रंथों के लिये किया गया है।' अतः इससे भी कुन्दकुन्द छठी सदी के विद्वान नहीं ठहरते।

आगे श्रीकल्याणविजयजी ने श्रीकुन्दकुन्दाचार्यजी के ग्रंथों में विष्णु आदि शब्दों को पाकर उन्हें छठी सदी का विद्वान् बताया है; परन्तु यह निर्विवाद सिद्ध नहीं है कि विष्णु-उपासना इसके पहले भारत में थी ही नहीं। ऐसे ही उनकी अन्य बातें भी अनिश्चित हैं जिनसे कोई निर्णय, काल-सम्बन्धी नहीं किया जा सकता!

उस पर कुन्दकुन्दाचार्यजी को विक्रमीय तीसरी या छठी शताब्दि का विद्वान् मानने से ऐतिहासिक परम्परा ही नष्ट हुई जाती है। इस विषय में मुख्तार जो का यह लिखना ठीक है कि "इस मत को मान लेने से समन्तभद्र तो समन्तभद्र पूज्यपाद भी कुन्दकुन्द से पहले के विद्वान् ठहरते हैं; और तब कुन्दकुन्द के वंश में उमास्वाति हुये, उमास्वाति ने तत्वार्थसूत्र की रचना की, उस तत्त्वार्थसूत्र पर पूज्यपाद ने 'सर्वार्थसिद्धि' नाम की टीका लिखी, इत्यादि कथनों का कुछ भी अर्थ या मूल्य नहीं रहता और पचासों शिलालेखों तथा ग्रन्थादिकों में पूज्यपाद तथा उनसे पहले होनेवाले कितने ही विद्वानों के विषय में जो यह सुनिश्चित उल्लेख मिलता है कि वे कुंदकुंद के वंश में अथवा उनके बाद हुये हैं मिथ्या और व्यर्थ ठहरता है, यह सब क्या कुछ कम हानि है?[२]" इसलिये ही पूर्व परम्परानुसार श्रीकुंदकुंदजी को ईस्वी प्रथम शताब्दि का विद्वान् मानना उचित है।

शिलालेखीय साक्षिता भी श्री कुन्दकुन्दाचार्य को प्रथम शताब्दि का विद्वान् प्रमाणित करती है। मर्करा के शक सं० ३८८ के ताम्रपत्र[१] में श्रीकुंदकुंदान्वय का उल्लेख निम्न प्रकार मिलता है :—

".....श्रीमान् कोंगणि-महाधिराज अविनीत नामधेयदत्तस्य देसियगगणं कौण्ड कुन्दान्वय-गुणचंद्रभटार-शिष्यस्य अभयणंदिभटार तस्य शिष्यस्य शीलभद्रभटार-शिष्यस्य

---

१ जैनजगत वर्ष ८ अंक ६ जब मरकरा के लेख में जो शाके ३८८ का है, कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख है, तब वह उपरान्त काल के कैसे हो सकते हैं?

२ रत्नकरण्डक श्रावकाचार (मा० ग्रन्थ)—जीवनी पृ० १६६

३ कुर्ग इन्स्क्रिप्शन्स (E.C.I.) श्रीयुगलकिशोर जी मुख्तार ने उसे उद्धृत किया है। वहां से ही हम इसका उपयोग सधन्यवाद कर रहे हैं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जनाणंदिभटार-शिष्यस्य गुणणंदि भटार—शिष्यस्य वन्दणन्दिभटारर्गे अष्टअशीतित्रयो-शतस्य सम्संवत्सरस्य माघमासं ..... ,

इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि शाके ३८८ में कुन्दकुन्दाचार्यजी की शिष्य-परंपरा में छः आचार्य हो चुके थे, जिनके होने के लिये यदि लगभग दो सौ वर्ष लिये जावें, तो श्रीकुन्दकुन्दजी का समय शाके १८८ के लगभग पहुंचता है। किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं है कि इन छै आचार्यों के पहले और कितने आचार्य भगवद् कुन्दकुन्द के बाद और हो चुके थे। अतः पट्टावली में दिये गये श्रीकुन्दकुन्द के समय को मानने में शङ्का के लिये स्थान नहीं रहता। इसके अतिरिक्त अन्य लेखों से यह स्पष्ट है कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्यजो से बाद के आचार्यों में श्रीसमन्तभद्र स्वामी और गंगराज्य-संस्थापक आचार्य सिंहनन्दी भी हुए हैं।[1] यह सिंहनन्दी जी गंगवंश के प्रथम राजा 'कोंगणिवर्मा' के समकालीन थे। कोंगणिवर्मा का एक शिलालेख नंजनगूढ तालुके से उपलब्ध हुआ है, जिससे प्रकट है कि कोंगुणिवर्मा वि० सं० १६० (ई० सन् १०३) में राज्यासन पर आरूढ़ थे। अतः श्री सिंहनन्दी जी का समय भी यही होना चाहिये और श्रीसमन्तभद्र जी इस समय से पहले के आचार्य होना चाहिये।[2] इस अवस्था में कुन्दकुन्द का उनसे भी पहले विद्यमान होना समुचित है। अतः श्रीकुन्दकुन्दाचार्य को पहली शताब्दि का विद्वान् मानना उचित ही ठहरता है। श्रीकल्याणविजय का उन्हें छठी शती का विद्वान् लिखना कोरी कल्पना है।

आखिर श्रीकल्याणविजयजी ने आचार्य कुन्दकुन्द जी को छठी शताब्दि का विद्वान् क्यों बताया? इसका कारण स्पष्ट है। उन्होंने अपनी मनगढ़न्त परम्परा को पुष्ट करने के लिये कि पहले जैनसंघ में वस्त्रधारी साधुओं का ही बाहुल्य था, श्रीकुन्दकुन्द को जिन्होंने निर्ग्रन्थ लिङ्ग दिगम्बर ही प्रतिपादा है, छठी शती में ला रखने का असफल उद्योग किया है। किन्तु वह भूलते हैं कि श्रीकुन्दकुन्द ने जो लिखा वह पूर्वपरम्परानुसार ही लिखा और उनसे पहले के निर्ग्रन्थ (जैन) साहित्य में भी जिनमुद्रा और जिनलिङ्ग नग्नभेष रूप ही निरूपित हुआ है। 'भगवती आराधना' में भी साधु का वेष नग्न लिखा गया है और जैनमुनि पाणि-पात्रभोजी बताये हैं। सर्व वस्त्रादिक का त्याग ही आचेलक्य है।[3] निर्ग्रन्थ लिङ्ग के चार चिन्हों में यही पहला है और यही औत्सर्गिक लिङ्ग है।[4] वह महानुभाव जो यह जान

---

१ मुख्तार सा० ने श्री समन्तभद्र स्वामी की जीवनी में यही निर्देश किया है। पृ० १६२-१६६

२ स्वामी समन्तभद्र, पृ० १६५

३ 'चेलाविसव्व संगचाओ' आचेलक्कं। (पृ० ३६२)

४ 'आचेलक्कं लोचो वोसट्ठ सरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंग कप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे ॥८२॥'

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

लेता है कि स्थान, आसन, शय्या और गमन में उसकी सब इन्द्रियां मर्यादा रूप हो गई हैं—इन्द्रियों पर उसने विजय पाली है, वह ही पुरुष नग्नता और गुप्ति को प्राप्त कर के उत्कृष्ट पराक्रम—मुनिपद को धारण करता है।[1] इनके अतिरिक्त जो पुरुष इन्द्रियनिग्रह करने में असमर्थ हैं वह अव्रतसम्यग्दृष्टी या व्रती श्रावक या उदासीन क्षुल्लक वा ऐलक श्रावक होता है। यह सब वस्त्रधारी होते हैं; किन्तु हैं यह भी सब ही निर्ग्रन्थ (जैन)! इनका भी उद्देश्य महापराक्रम को प्रकट कर के मुक्त होना है—इसलिये इनके भेष को 'भगवती आराधना' के कर्त्ता ने आपवादिक लिङ्ग कहा[2] है और इनके लिये स्पष्ट विधान किया है कि:—

'अववादिय लिंग गदो, वि सयं सत्ति अगूहमाणो य।
णिंदण गरहण जुत्तो, सुज्झदि उवधिं परिहरंतो ॥८९॥

भावार्थ—अपवादलिंग को प्राप्त (श्रावक-श्राविका या क्षुल्लक-आर्यिका) महानुभाव भी अपनी शक्ति को नहीं छिपावें बल्कि अपनी असमर्थता के लिये निन्दा-गर्हा करते हुये परिग्रह त्याग कर शुद्धता को प्राप्त करें! अर्थात् उन्हें औत्सर्गिक लिङ्ग जो साक्षात् मोक्ष का कारण है उसकी प्राप्ति का उद्योग करना चाहिये। इसीलिये आराधनाकार कहते हैं कि वह मरण समय अवश्य इस उत्कृष्ट लिङ्ग को धारण कर लें।[3] अब पाठकगण स्वयं समझ सकते हैं कि 'भगवती आराधना' के रचयिता श्रीशिवार्य जी को यह कहाँ इष्ट था कि वस्त्रयुक्त लिङ्ग

---

१ 'इय सव्वसमिदकरणो, ठाणासणसयणगमणकिरियासु।
णिग्गिण्ण गुत्तिमुवगदो, पग्गहिददरं परक्कमदि ॥८८॥'

२ 'भगवती आराधना' के कर्त्ता ने केवल साधुओं के लिये ही नहीं बल्कि श्रावक श्राविकादि के लिये भी आराधना का विधान किया हैं। इसलिये ही उन्होंने साधु वेष और श्रावक के भेष का उल्लेख उत्सर्गलिङ्ग और अपवाद लिङ्ग के नाम से किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है :—

"अरिहो भत्तपइण्णाए होदि हु विरदो अविरदो वा ।७६।"

× × ×

"सो मरणं इच्छंतो होदि हु सामण्ण णिव्विण्णो ।७८।" —इत्यादि

३ 'उस्सग्गिय लिंगगदस्स, लिंगभुस्सग्गियं तयं चेव।
अववादियलिंगस्स वि, पसत्थमुवसग्गियं लिंगं ॥७९॥

इससे पहले ७८वीं गाथा तक मुनि और व्रती एवं अव्रती श्रावकों को समान रूप में समाधि-मरण करने का उपदेश देकर, इस ७९वीं गाथा में उत्सर्ग लिंग और अपवाद लिंग का विधान कर के शास्त्रकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अपवाद लिंग से उनका भाव श्रावकों के भेष से है। संन्यास मरण के लिये वह अपवाद लिङ्गी श्रावकों से भी कहते हैं कि वह अन्त समय उत्सर्ग लिंग धारण कर लें तो प्रशंसायोग्य हैं अर्थात् मरते समय दिगम्बर मुनि के महाव्रत धारण कर लें। दिगम्बर जैन संघ में अबतक यह परिपाटी हैं कि मुमुक्षु अन्त समय उत्सर्ग लिङ्ग को धारण कर के समाधिमरण करते हैं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

भी साक्षात् मोक्ष का कारण है ? वह तो स्वयं दिगम्बर भेषी और पाणिपात्र भोजी थे; फिर भला वह कैसे यह विधान करते कि वस्त्रयुक्त दशा से भी मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है ? उन्होंने तो स्पष्ट रूप में निर्ग्रन्थलिङ्ग (साधुवेष) का प्रथम चिह्न नग्नता ( आचेलक्य ) घोषित किया है !

आगे श्रीकल्याणविजयजी 'भगवती आराधना' में आर्यिकाओं के लिये दोनों लिङ्गों का विधान देखकर अपने मत का समर्थन हुआ समझते हैं; परन्तु वह भूलते हैं। यहां भी दिगम्बर मान्यता का ही प्रतिपादन किया गया है; जिसका उल्लेख श्रीकुन्दकुन्दाचार्य एवं अन्य सूरियों के ग्रन्थों में मिलता है। आर्यिका पंच महाव्रत धारण करती है इसलिये उपचारतः वह महाव्रती है और चूंकि महाव्रती उत्सर्गलिङ्गी है इसलिये आर्यिका के भी औत्सर्गिक लिंग कह दिया। किन्तु साथ ही उसे अपवाद लिङ्गी भी इसलिये कहा कि वह लज्जा आदि के कारण नग्न नहीं हो सकती और साड़ी पहनती है।[1] इस उल्लेख से श्वेताम्बरों की स्त्री-सम्बन्धी मान्यता की पुष्टि नहीं होती ! यही बात संथारा के समय क्षपक की सेवासुश्रूषा-विषयक उल्लेख से लागू है।[2] वह एक विशेष कथन है और उसके आधार से एक सामान्य नियम को निर्धारित नहीं किया जा सकता। वैयावृत्य धर्म को पालने के लिये अन्य मुनिगण श्रावकादि से लेकर सब आवश्यक वस्तुयें जुटा लें तो इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि वह हमेशा उन वस्तुओं को अपने पास रखते थे। अतः इस विशेष उल्लेख के आधार से यह नहीं कहा जा सकता कि जैनमुनि वस्त्र पात्रादि परिग्रह रखा करते थे। श्रीकुन्दकुन्दाचार्य जी ने इस विषय को 'प्रवचनसार' में बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है। श्रीशिवार्यजी तो आराधना का उपदेश मुनि और श्रावक सब ही के लिये करते हैं—इसलिये उनको श्रावकों के अपवाद लिङ्ग का भी उल्लेख करना पड़ा है; परन्तु श्रीकुन्दकुन्दजी ने केवल श्रमण धर्म (मुनिपद) का ही निरूपण किया है। इसलिये वह मुनियों के अपवादमार्ग का स्पष्ट उल्लेख निम्न प्रकार करते हैं :-

'उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं ॥२५॥'

भवार्थ—जिनमार्ग में मुनि को उपकारी परिग्रह इस प्रकार कहे हैं कि यथा जातरूप (नग्न) भेषरूपी शरीर का द्रव्यलिङ्ग होना गुरुवचन-रूप पुद्गलों का ग्रहण रूप परिग्रह—

१ इत्थी वि य जं लिंगं दिट्ठं ओसग्गियं च इदरं वा।
तं तह होदि हु लिंगं, परियत्तमुवधिं करंतीए ॥८३॥

२ सेज्जागासणि सेज्जा- उवधिपडिलेहणा उवगाहिदे।
आहारो सहवायण विकिंचणुव्वत्तणादीया ॥३१०॥

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

शुद्धात्मानुभवी महामुनियों में विनय प्रवृत्ति—रूप द्रव्य, मन परिग्रह और सिद्धान्तों के पठन रूप वचन परिग्रह इनके अतिरिक्त और किसी परिग्रह का विधान मुनि के अपवाद लिङ्ग में नहीं है। रोगी या वृद्ध मुनि के अपवाद लिङ्ग में भी इन परिग्रहों से अधिक और कोई परिग्रह नहीं होता और इनको परिग्रह कहना उपचारमात्र है। इसीलिये उत्सर्ग लिङ्ग और अपवाद लिङ्ग में वैषम्य के स्थान पर मैत्री ही प्रतिपादी गई है; यथाः—

बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरदु सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि ॥३॥

भावार्थ—बालक, वृद्ध, तपस्या से खिन्न, रोग से पीड़ित—ऐसे मुनि जिस तरह से मूल संयम का घात नहीं हो उस तरह से अपनी शक्ति के अनुसार आचरण करे! अतः यह स्पष्ट है कि मुनि के अपवाद लिङ्ग में भी उसे अपने मूल गुणों को ठीक से पालना पड़ता है—'भगवती आराधना' में भी जहां क्षपक के संन्यास धारण का वर्णन है वहां यह नहीं लिखा है कि वह वस्त्र धारण कर ले! बल्कि उसके मूलगुणों की स्थिरता के लिये अन्य मुनिजन ऐसे साधन जुटाते हैं जिनसे वह मोक्षमार्ग में दृढ़ रहे। ऐसा करने में उन्हें जो दोष लगता है उसका वह प्रायश्चित्त लेते हैं। अतः निर्ग्रन्थ परम्परा में वस्त्रयुक्त दशा साक्षात मोक्षमार्ग कभी नहीं कही गयी है। श्रीकल्याणविजय जी पूर्वापर सम्बन्ध मिलाये बिना ही अनर्गल प्रलाप करते हैं। —क्रमशः

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

# दिगम्बर जैन व्रत-कथायें†

(ले०—श्रीयुत अगरचन्द नाहटा, बीकानेर)

प्रत्येक धर्म में कुछ विशेषताओं को लेकर कई तिथियाँ पर्व*-त्योहार के रूप में मानी जाती हैं और उस दिन उस धर्म के सिद्धान्तानुसार धार्मिक आचरण-व्रतादि पालन किये जाते हैं। इनमें से कई पर्वों को विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हो जाने के कारण दूसरे धर्मवाले भी अपना लेते हैं और उसके लिये स्वमतानुसार कोई कथा गढ़ ली जाती है। इन पर्व तिथियों की ओर जनता का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करने के लिये उनके आराधना से विशेष फल प्राप्ति होने के दृष्टांत में कथाओं का साहित्य निर्माण होता है और उन्हीं का नाम "व्रत कथा" साहित्य है। जैन साहित्य में भी इस प्रकार की व्रत कथायें प्रचुर रूप में पाई जाती हैं पर अभी तक उनका भली भाँति अनुसंधान नहीं होने से बहुत-सा साहित्य अंधकार में पड़ा है, प्रस्तुत लेख विद्वानों का इस ओर ध्यान आकर्षित करने के उद्देश्य से ही लिखा जा रहा है।

जैन धर्म प्रधानतः दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दो सम्प्रदायों में विभक्त है, इन दोनों का पृथग्-पृथग् बहुत बड़ा साहित्य है जिनमें बहुत कुछ समानता होते हुए भी एक दूसरे से कतिपय विशेषताएँ एवं मौलिकताएँ भी हैं, पर हमारे विद्वानों का तुलनात्मक अध्ययन की ओर लक्ष्य कम होने कारण उन पर यथोचित प्रकाश नहीं डाला गया। हमलोग एक दूसरे को सर्वथा भिन्न से मान बैठे हैं इसीलिये एक संप्रदायवाले को दूसरे सम्प्रदाय के साहित्यका ज्ञान बहुत सीमित है। यद्यपि मेरा दिगम्बर साहित्य का अध्ययन हमारी ओर उस साहित्यिक कमी के कारण, परिमित नहीं है फिर भी मेरी सदा से यह इच्छा रहती आई है कि जो कुछ लिखा जाय दोनों को लक्ष्य में रख कर लिखा जाय। इसके प्रमाण स्वरूप मेरे अनेक लेख भास्कर एवं अनेकान्तादि में प्रकाशित ही हैं।

मेरे नम्र मतानुसार हमारे विद्वानों का परमावश्यक कर्त्तव्य है कि उभय सम्प्रदाय के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन कर किन किन सिद्धांतों एवं बातों में दोनों की समानता है, किस विषय में किसकी कितनी विशेषता एवं न्यूनता है इसकी भली भाँति आलोचना की जाय। तभी हमारा पारस्परिक सहयोग एवं सद्भाव स्थायी एवं दृढ़तर होगा। और

†बैंकटेश्वर प्रेस से ६ पद्यबंध कथाओं का संग्रह एवं दीपचन्द वर्णी लिखित ३१ व्रतकथाओं का एक संग्रह प्रकाशित है। कई फुटकर कथायें भी प्रकाशित हैं।

*प्राचीन जैनागमों, बौद्ध-वैदिक ग्रन्थों से पता चलता है कि अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावास्या ये दिन ही प्राचीनकाल में विशेष आराध्य माने जाते थे। इसके पश्चात् जैनों में तीर्थंकरों के कल्याणक एवं पंचमी आराधन का प्रचार बढ़ा।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

हमारे विचारों में संकीर्णता का ह्रास होकर धार्मिक सहिष्णुता एवं उदारता पनपेगी। इस लेख में जैन व्रत-कथाओं के सम्बन्ध में श्वेताम्बर साहित्य का थोड़ा सा परिचय देकर यथाज्ञात दिगम्बर साहित्य का परिचय दिया जाकर बीकानेर श्वेताम्बर ग्रन्थ भंडार से प्राप्त २१ दिगम्बर व्रत-कथाओं का परिचय दिया जा रहा है। आशा है अन्य विद्वान् इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालने एवं आलोचना प्रकाशित करने की कृपा कर हमारी जानकारी की अभिवृद्धि करेंगे।

## व्रत-कथा सम्बन्धी श्वेताम्बर साहित्य

श्वेताम्बर पर्व-कथा-साहित्य में महेश्वरसूरि रचित पंचमी माहात्म्य सब से प्राचीन है जिसका समय ११-१२वीं शताब्दी है। उसके पश्चात् मौलिक रचनायें १४ वीं, १५ वीं शताब्दी से प्रारम्भ होती हैं, जिनमें खरतर जिनप्रभसूरिजी रचित "दीवालीकप्पो" सं० १३८७, भा० सु० सं० १३२५ में विनयचंद्रसूरिकृत दीपालिका† कल्प, १५वीं शताब्दी में—सं० १४८३ में जिन-सुन्दर-सूरि कृत दीपालिकाकल्प, सं० १४८५ में पुण्यराजकृत रजपर्व-प्रबन्ध* एवं सं० १४७८ में खरतर जयसागरोपाध्याय रचित पर्वरत्नावली (श्लोक ६२१), १६ वीं शताब्दी में—सौभाग्यनंदिसूरिकृत मौनएकादशी कथा, सं० १५७६ हम्मीरपुर, १७वीं शताब्दी—में सं० १६५५ में कनक कुशल रचित सौभाग्यपंचमीकथा, सं० १६५७ उन्नत-नगर में रविसागर रचित मौन एकादशीकथा, सं० १६९९ में दानचन्दकृत ज्ञानपंचमीकथा, १८वीं शताब्दी में—सं० १७०८ में दानचंदकृत मौन एकादशीकथा, मेघविजयकृत ज्ञानपंचमी कथा, १९वीं शताब्दी में—खरतर क्षमाकल्याणोपाध्याय ने सं० १८६० के लगभग चातुर्-मासिक व्याख्यान, १८३५ में अष्टान्हिका व्याख्यान, अक्षय तृतीया, मेरुतेरस, होलिका आदि व्याख्यान एवं उमेदचंद्रकृत दीपावली व्याख्यान, सं १८९६ अजीमगंज, जीवराजजी रचित चैत्रपूनम व्याख्यान, सं० १८६० के लगभग आदि रचे गये हैं इन पर से भाषा में ज्ञान पंचमी आदि कथाओं पर चौपई, स्तवनादि अनेक कृतियाँ निर्मित की गई हैं। १२ व्रत, पूजाफल, रात्रिभोजनादि पर भी अनेक कथायें उपलब्ध हैं। २०वीं शताब्दी में राजेन्द्रसूरिजी ने दीपालिकासार एवं द्वादश पर्वों के श्रीजिनकृपाचंद्रसूरि, वीरपुत्र आनंदसागरजी के हिन्दी अनुवाद एवं फुटकर कई पर्व कथाओं के अनुवाद इंदौर आदि से प्रकाशित हुए हैं।

दि० व्रत कथाओं में भी धनपाल रचित भविष्यदत्त-कहा प्राचीन प्रतीत होती है इसका समय ११वीं शताब्दीके लगभग है। इसके पश्चात् अनेकों व्रतकथाओंका निर्माण हुआ, पर बहुतों का समय निश्चित ज्ञात न होने से संक्षिप्त सूची मात्र दे के संतोष मानना पड़ता है।

†भगवान महावीर का निर्वाण दिन—यह पर्व अब सब हिन्दू समानभाव से मानते हैं पर मूल में यह जैनों का प्रतीत होता है।

*होली का त्यौहार मूलतः सनातनियों का प्रतीत होता है, पीछे से जैनों ने अपनाया है, पर शुद्ध रूप में।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

## दि० संस्कृत व्रत-कथायें

१ व्रतकथाकोष—अमृत पंडित, दामोदर, देवेन्द्रकीर्त्ति, नरेन्द्रसेन, यशोनंदि श्रुतसागर, ललितकीर्ति।

२ षोडशकारण—केशवसेन, ज्ञानसागर, शुभचंद्र, सकलकीर्ति, सुमतिसागर।

३ रोहिणी—केशवसेन, प्रभाचंद्र, भुवनकीर्ति, सुरेन्द्रभूषण।

४ मुक्तावलि—खुशाल, रत्नकीर्ति।

५ कांजीद्वादशी—खुशाल।

६ सुगंधदशमी—गंगदास, पद्मनन्दि।

७ पुष्पांजलि—गंगदास, छत्रसेन, देवेन्द्रकीर्ति।

८ त्रैकालिक चतुर्विंशति—गुणनन्दि, विद्याभूषण।

९ ऋषिमंडल विधान—गुणनन्दि।

१० रोहतीज—गुणनन्दि।

११ अनन्तव्रत—गुणचंद्र, गुणभद्र, जिनदास, ताराचंद, धर्मचंद्र, पद्मनंदि, रत्नचंद्र।

१२ एकीभाव—जगतकीर्ति।

१३ होली—जिनदास, वादिचंद्रसूरि।

१४ रात्रि भोजन—जिनदास, दशरथ।

१५ चतुर्विंशति - जिनदास रचित चतुर्विंशदुत्तर द्वादशशतोद्यापन भी है।

१६ दशलक्षण—ज्ञानभूषण, धर्मचंद्र, रत्नकीर्त्ति, विश्वभूषण।

१७ चंदनषष्ठि - देवसेन, श्रुतसागर, सोमकीर्त्ति।

१८ रविव्रत—देवेन्द्रकीर्त्ति, श्रुतसागर।

१९ बुद्धाष्टमी—देवेन्द्रकीर्त्ति।

२० नंदीश्वर—देवेन्द्रकीर्त्ति, श्रुतसागर।

२१ केवलचान्द्रायण—देवेन्द्रकीर्त्ति।

२२ पलपव्रत—देवेन्द्रकीर्त्ति।

२३ कल्याण मंदिर—देवेन्द्रकीर्त्ति, सुरेन्द्रभूषण।

२४ विषापहार—देवेन्द्रकीर्त्ति।

२५ रैदव्रत—देवेन्द्रकीर्त्ति।

२६ त्रिपंचाशक्रिया—देवेन्द्रकीर्त्ति।

२७ अष्टान्हिका—धर्मकीर्त्ति, श्रुतसागर।

२८ रत्नत्रय—धर्मभूषण, पद्मनन्दि।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

२९ श्रुतस्कंध—नक्षत्रदेव, श्रुत पंचमी—श्रीधरसेन, सोमसेन, रामदेव।
३० मेघमालिनी—प्रभाचंद्र।
३१ रत्नाबंधन सकलकीर्त्ति।
३२ लब्धिविधान—विद्याधर, सकलकीर्त्ति।
३३ भक्तामर—सोमसेन, सुरेन्द्रभूषण।
३४ आकाश पंचमी—श्रुतसागर।
३५ कलिकुण्ड पार्श्वविधान—पद्मनन्दि।
३६ ज्वालामालिनी—लक्ष्मीसेन।
३७ कर्मचूर—लक्ष्मीसेन।
३८ जिनगुणसम्पत्त—विद्याभूषण, सुमतिसागर।
३९ द्वादशव्रत—शांतिदास, श्रीभूषण।
४० सुखसंपतिव्रत—सुरेन्द्रभूषण।
४१ श्रेयस्करणी—सुरेन्द्रभूषण।
४२ पुरन्दर—श्रुतसागर।

## हिन्दी दि० व्रत-कथा सूची

१ रत्नत्रय—ब्रह्म ज्ञानसागर, भट्टा० सकलकीर्त्ति, हरिकृष्ण पांडे, नाथूलाल दोशी गुणभद्र।

२ पुष्पांजलि—खुशालचंद्र, गुणभद्र (अपभ्रंश), ललितकीर्त्ति।

३ रविव्रत—खुशालचंद्र, नेमिदत्त भाऊ, भानुकीर्त्ति, रत्नभूषण, जसकीर्त्ति (अप०) ज्ञानसागर, सकलकीर्त्ति, अचलकीर्त्ति,

४ रोहिणी—विशालकीर्त्ति, पं० ज्ञानसागर, हेमराज, भगवान् सागर, लक्ष्मीसेन।

५ पुरंदर—अपभ्रंश का भी है।

६ ऋषि पंचमी—प्र०

७ दशलक्षण—रइधु, अभयचंद्र, गुणभद्र, भावशर्म, भैरौंदास, ज्ञानसागर, हरिकृष्ण।

८ हनुवंतकथा—ब्रह्मरायमल्ल।

९ अणथमी कथा—हरिश्चन्द्र अग्रवाल, रइधु।

१० अनंतचतुर्दशी—महेश, पद्मनन्दि, गुणभद्र, ज्ञानसागर, भैरूदास, हरिकृष्ण, ज्ञानचंद्र

११ आकाश पंचमी—गुणभद्र (अपभ्रंश), खुशालचन्द्र, घासीदास, हरिकृष्ण।

१२ षोड़शकारण—रइधु, भैरूंदास, ब्रह्म ज्ञानसागर, सकलकीर्त्ति, नाथूलाल, गुणभद्र।

१३ चंदनषष्टि—गुणभद्र (अप०), खुशालचन्द्र।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

१४ चंद्रायण—पं० लाखू (प्रा०), गुणभद्र।

१५ जिनरात्रिकथा—यशःकीर्त्ति, ज्ञानसागर।

१६ ज्येष्ठ-जिनवर-व्रत—श्रीभूषण।

१७ अष्टान्हिका—नाथूलाल दोसी, विश्वभूषण, ज्ञानसागर।

१८ श्रुतस्कंध—

१९ श्रुतपंचमी—बनवारी लाल, भ० सुरेन्द्रनाथ (भूषण ?) पृथ्वीपाल, विष्णु।

२० रोटतीज—जैनेन्द्रकिशोर।

२१ लब्धिविधान—ज्ञानसागर, गुणभद्र।

२२ मौनएकादशी (मौनव्रत)—प्रकाशित, गुणचन्द्रसूरि।

२३ मुकुट सप्तमी—पं० ब्रह्मराय, खुशालचन्द्र, गुणभद्र।

२४ रक्षाबंधन—ज्ञानसागर, दामोदर।

२५ श्रावण द्वादशी—ज्ञानसागर।

२६ होलीकथा—बेगराज, छीतरमल।

२७ रोहिणी—जिनचन्द्र, गुणभद्र. हेमराज।

२८ कर्मचूर—शिवप्रसाद।

२९ सुखसम्पत्ति—विमलकीर्त्ति।

३० सुगंधदशमी—खुशालचन्द्र, ब्रह्म ज्ञानसागर, मकरंद पद्मावतीपुरवाल, भैरोदास, पं० सुखसागर, गुणभद्र।

३१ व्रतकथाकोष—पृथ्वीपाल, वख्तावरमल, रतनलाल, खुशालचंद्र (काला)

३२ दर्शन, दान, शील, रात्रि भोजन—भारमल खरौआ।

३३ दुधारसी—श्रीधर्म, विनयचन्द्र, गुणभद्र (अप०), ज्ञानसागर।

३४ निर्जर पंचमी—विनयचन्द्र (अप०)

३५ निर्दुषो सप्तमी—गुणभद्र, रायमल, ज्ञानसागर।

३६ पराल्य व्रत—शुभचन्द्र।

३७ पाखवइ—गुणभद्र।

३८ श्रावण द्वादशी—गुणभद्र, आभू

३९ अष्टमी—गुलालकीर्त्ति, गैबीदास, जोगीदास।

४० जिनगुणसम्पत्ति—ललितकीर्त्ति।

४१ निशि भोजन—किसन सिंह।

४२ निशल्य—ज्ञानसागर।

४३ मुक्तावलि—छजमल।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

इस लघु लेख में जिन व्रतकथायों* का परिचय दिया जा रहा है उनका दो दृष्टियों से महत्व है :-१ अपभ्रंश भाषा की इसमें ६ (पूर्ण एवं १ की ६ गाथायें) व्रतकथायें हैं। भारतीय लोक भाषाओं के क्रमिक विकाश के अध्ययन के लिये अपभ्रंश साहित्य का विशेष महत्व है, पर खेद है दिगम्बर साहित्य में इस भाषा का साहित्य प्रचुर होने पर भी हमारे विद्वानों ने उसका विशद इतिहास निर्माण नहीं किया। अन्यथा इन रचनाओं को हिन्दी आदि भाषाओं के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता। दि० समाज का परमावश्यक कर्त्तव्य है कि भाषा विज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से शताब्दी वार इनके संग्रह का १ ग्रन्थ प्रकाशित करें एवं अपभ्रंश और हिन्दी दि० साहित्य का परिचायक आलोचनात्मक इतिहास प्रकाशित करें। २ इसमें आई हुई अधिकतर रचनाऐं अद्यावधि अज्ञात हैं। इस दृष्टि से इस लेख द्वारा हमें कई नये ग्रन्थकारों एवं कई ज्ञात ग्रन्थकारों की नवीन रचनाओं का पता चला है खोज करने पर और भी ऐसे अनेकों नये-नये ग्रन्थों का पता चल सकता है।

१ जैन गुर्जर कविओ भा० १ पृ० ६१ में जसवन्त सागर के जैन मंदिर की प्रति का उद्धरण दिया है जिसमें ३७ कृतियाँ हैं उनमें १० अपभ्रंश भाषा में व्रतकथायें हैं:— १ सुअंधदसमी-कहा २ रोहिणी विधान कथा ३ मुक्तावलि विधान ४ अनन्त व्रतकथा ५ निर्दोष सप्तमी कथा ६ पासवई-कहा ७ जिन-पुरंदर कथा ८ उद्धरण कथा ९ जिन रात्रि विधान १० सोलह कारण जयमाला, इनमें से रोहिणी कथा के कर्त्ता देवनन्दि हैं अन्य के अज्ञात हैं इस ग्रन्थ में उद्धृत सुअन्धदसमी कथा का आद्य पद मेरे निर्देशित ही है। संभव है और भी कई कृतियाँ मिलाने पर अभिन्न होने का पता चले।

१ पुष्पांजलिकथा---पं० हरिचन्द्रकृत गद्य-पद्य

आदिः—**विप्रस्य देह जवरापि सुरोवभूव पुष्पांजले विंधिमवाप्यततोपिचक्री।**
**मुक्तश्चादिव्य तपसोविधिमाविधाय नित्यं ततोहि जिनपं विभुमर्चयामि।**

—अस्य कथा

× × × ×

अंत—**यः कुरुते पठति लिखति व्याख्याति उपदेशयति शृणोति स सर्व्वदा सुखं लभते**

॥६॥ पुष्पांजलि कथा पंडित हरिचंद्रकृता समाप्तेति

२ श्रावण द्वादशी कथा—चंद्रभूषणशि० पं० अभ्र श्लोक ८०

आदिः---**प्रणम्य परम ब्रह्म केवलज्ञानगोचरं,**
**वक्ष्येभव्यप्रबोधाय श्रावण द्वादशीं कथां ॥१॥**

× × × ×

*वैदिक धर्मावलम्बियों के व्रत आदि का विशेष परिचय कल्याण में प्रकाशित एक लेखमाला द्वारा पाया जाता है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अंतः---चंद्रभूषण शिष्येण कथेयं पापहारिणी ।
संस्कृता पंडिताभ्रेण कृता प्राकृत सूत्रतः ।८०।

३ अकाशपंचमी कथा---श्लोक ९७

आदिः---प्रणम्य वीतरागस्य पादयुग्मं भवच्छिदं ।
कथाकाशपंचम्यां, वक्ष्येहं पूर्व्वसूत्रतः ।१।

× × × ×

अंतः---ये सम्यक्त्वं न त्यजंते कदाचित्ते जायंते कर्म्मबंधने मुक्त्वा ।
शुद्धं त्रेधाये व्रतं पालयन्ते किं वाश्चर्यंतेच गच्छंति मोक्षं ।९७

४ रत्नत्रय कथा—पं० रत्नकीर्ति, गद्य

आदिः---श्रीवर्द्धमानम्य गौतमादिकसद्गुरून् ।
रत्नत्रयकथां वक्ष्ये यथाम्नायं विमुक्तये ।

अंत —तत्र कल्याणकपूजाप्रभावनाकरि अन्योयः कोपि पुरुषः स्त्री वा एतद्विधानं समाचरति भावपूर्वकं स एवं विधिफलं प्राप्नोति न संदेहः।

॥६॥ पंडित रत्नकीर्ति विरचिते रत्नत्रय विधानकथा समाप्ता ॥

५ षोड़शकारणकथा—पं० अभ्र संस्कृत श्लोक ७१ फिर ९ पद्य अपभ्रंश ।

आदिः---रत्नत्रयं नमस्कृत्य कर्मघ्नं मोक्षसौख्यदं ।
षोडशाहं प्रवक्ष्यामि कारणानि जिनागमान् ।१

× × × ×

अंतः---इय सोलह कारण कम्म वियारण जे धरंति वय सीलधरा ।
ते दिवि अमरेसर भुवणिनरेसर सिद्धवरगण हियईहरा ॥

इत्यभ्र पंडित कृत जयमाला सह षोडशकारणकथा व्यवहारविधानं समाप्तम् ।

६ लब्धिविधान कथा--पं० अभ्र रचित, हर्षब्रह्म आग्रह, श्लोक २१०

आदिः---दत्वात्रैलोक्यमुद्धर्तुयं पंचपरमेष्ठिनः ।
तान्नमष्कृत्य वक्ष्येहं व्रतं लब्धिविधानकं ।

× × × ×

यो लेखयति यथार्थं शृणोति वाचयति भावयत्यनिशं ।
स च लभते परमसुखं कथितमिदं पंडिताभ्रेण ।२०९।
जिनसूत्रानुसारेण हर्ष ब्रह्मोपरोधतः ।
भव्य प्रबोधनार्थायममेयं रचिता कथा ।२१०।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

७ श्रुतस्कंध विधान कथाः---

आदि :---**श्रीगौतमस्वामिगणधरदेवेन श्रेणिकमहाराज्ञः श्रुतस्कंधविधानं कथयतु प्रारब्धं ।**

× × ×

अतः---**एतत्श्रुतस्कंधविधानं श्रेणिकमहाराज्ञः कथितां गौतमस्वामिना चातुर्वर्णसंघेन स्वशक्त्या च कर्तव्या ।**

८ रुक्मिनी चरितविधान---छत्रसेन रचित नरदेव कारापित श्लोक ५९

आदिः --**जिनं प्रणम्य नेमीशं संसरार्णवतारकं ।**
**रूक्मिनीचरितं वक्ष्ये, भव्यानां बोधकारणं ।१।**

अतः---**नेमिनाथो जिनाधीशः संसारद्रुमपावकः ।**
**मोक्षसौख्यं जनाभ्यर्थ्यं मह्यं दिशतु सत्वरं ।५९।**

इति छत्रसेन विरचिता नरदेवकारापिता रूक्मिनीविधान कथानकम्

९ पल्यविधान ।

आदिः---**नमो नाभेयमित्राय काममल्लविनाशिने ।**
**विमुक्तिपदप्राप्ताय भव्यांबुजविकाशिने ।१।**

× × ×

अंतः---जिनगृहोपकरणानि जिनायतने निवेदनीया नीतिपल्यविधानं समाप्तं ।

१० दशलाक्षणिकाविधान— लोकसेन— गद्यपद्य

आदिः---**इह जंबूद्वीपे भरतक्षेत्रे मगधदेशे राजगृहनगरे राजा श्रेणिको नाम ।**

अतः---**श्रेणिकः स्वगृहे श्री महावीरस्यसमोवशरणं लोकानामुद्धरणाय ।**
**पर्यटति । कृतिरियं लोकसेनस्य दशलाक्षणिक कथेयं समाप्तेति ।**

११ मुक्तावलि--अपभ्रंश ।

आदिः---**वीर जिणंदहं पयकमलु वंदिवि गुरु गोयमुपणविज्जइ ।**
**रयणत्तउ मणिधरिवि मइं ।**

अंतः---**जो विहिणा व वसह एरु विहे सो कमेण जिहपोमरहो ।**
**सिव सुख लहइ सइं उत्तरि विभवसमुद् दुग्गाहुल्म ।१०।**

१२ चंदनषष्ठी विधान—

आदिः---**श्रीमहावीर देवगणधरः श्रेणिकस्य चंदनषष्टिविधानकथां कथयति ।**

× × ×

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पणवेप्पिणुभावें विमलसहावेंपायपोम परमेठिहें ।
अक्खमिणि सत्तिए भवियणभत्तिए जंफलु चंदणाछट्ठि हें ।
× × ×

अंतः—इय चंदण छट्ठिहिं जो पालइ बहुलक्खणु ।
सो दिवि भुंजइ सोक्खु मोक्ख होणाणें लक्खणु ॥६॥
विधि संस्कृत में, कथा अपभ्रंश में है ।

१३ जिनरात्रिविधान कथा--- (पत्र ५३ से ६३) अपभ्रन्श ।
आदिः—पणविवि सिरिसंत हो आइस जुत्त हो वीर होणासिय पावमलु ।
णिच्चलमणा भव्वहं बियलिय गव्वहंअक्खमि पुड़ जिणारत्ति फलु ।१।
× × ×

तः—एण वराणिज्जियराइवर विणि वारिय चउविह गइ ।
जध सासण विग्घ विणासण, यहु पडंतुमहामइ ।१।

१४ जिनपुरंदरविधान कथा---अमर कीर्ति--- अपभ्रन्श-
आदिः—सिरि वीर जिणंद हो समसरणे सेणिय रायहो पुएणणिहे ।
जिणपूजपुरंदर विहि कहिउ, तं आयणाहिं विहियदिहि ।१।
× × ×

अंतः—जिणपूयापुरंदर विहि करए एकवार जो इत्थुणरो ।
सो अँव पसाय हवेइ लहु अमरकित्ति तियसेसरु ।१२।

१५ रोहिणी विधान कथा--- संस्कृत गद्य-
आदिः—वासुपूज्यं जिनं नत्वा कथां वक्ष्ये जिनानमान् ।
दुर्गंधा च व्रतेनाभूत् रोहिणी प्रिया रोहिणी ।१।
× × ×

अ'तः—रोहिणी विधानं करोति स एवं विधं फलं प्राप्नोति इहैव यशः कीर्तिश्च ।

१६ त्रिकाल चौवीसी कथा—अभ्रदेव श्लोक ७६
आदिः—स्मृत्वापंचनमस्कार धृत्वा रत्नत्रयं हृदि ।
सर्वज्ञश्रुतसाधूनां नत्वा पादांबुजद्वयं ।१।
अ'तः—इयं कथाभ्रदेवेन कथिता दुःखहारिणी ।
येन संश्रूयते नित्यं लभ्यंते न मोक्षस्सा ।७६।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

१७ निर्दूष सप्तमी उदयचंद्र, शि० बालचंद्र अपभ्रंश-

आदिः—संति जिणेंदहं पयकमलु भवभयकलुसकलंक निवारा ।
उदयचन्दु गुरु धरिवि मणे, बालइन्दु मुणि नविवि निरुंतरु ।१।

अंतः—वच्छर सत्तजाम धसतारिहिं विहि भाविज्जइ इह नरनारिहि ।
किज्जइ धणसत्तिहि उज्जवणउ विविह पहावणेण दुहदमणउं ।
आयणिवि मुणिभासियउ राए गुणअनुराउ वहत्तें ।
लयउ धम्मु सावयजणहो तियरणेहिं विहि उत्तमसत्तें ।२०।

१८ दुधारसीविधाननरगउतारी कथा—उदयचन्द्र, शि०बालचन्द्र।

आदिः—समवसरणि सिंहासणि बइठउ सोजि देउ महुमणइं पइट्ठउ ।
अवरिजि हरिहर बंभ पुडिल्ला, ते पुणु नवउं न मोहगहिल्ला ।

× × ×

उदयचंदु गुणगणहं जुगरुवउ सोमइ भावें मणा अणुसरियउ ।
बालयन्दु मुनिणवोवियिरंतरु नरग उतारी कहमि कहंतरु ।

× × ×

अंतः—अमियसरीसउ जवणजलु नयरु महावणु सग्गु ।
तहिं जिणाभवणिवसं ताइणा विरइ रासु समग्गु ।१६।

१९ निर्झर पंचमी विधान कथा—उदयचन्द्र,—शि० बालचन्द्र ।

आदिः—पणाविवि पंच महागुरु सारद धिरविमणे
उदयचन्द्रगुरुसुमरिवि वंदि बालमुणे ।

× × ×

अंतः—इय पंचमि संखेयं अक्खियपंचफ्य ।
तिहुअणा गिरितल हट्ठिय इह रासउ रइउ ।
माथुरसंघहं मुणिंद रूविणइन्दें कहिय ।
भवियहु पढहु २ पढ़ावहु दुरियहं देहु जलु
माणुमकरहु मरुसहुमणुर वंचहु अवलु ।
जिणाभणंति भडारा पंचमि पंचपहु ।
अम्हिहिंते दरिसाविय अविचलु सिद्धि पहु ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

२० सुगन्ध दसमी कथा:—

आदिः---जिण चउवीसनवेप्पिणुभाउ धरेप्पिणु देवत्तहं चउवीसहं
पुणु फलु आहासमिअम्मु पयासमि वर सुयन्ध दसमिहिं जहं ।
पुच्छिउ सेणिएण तित्थंकरु कहहि सुयंधदसमि फलु मणहरु ।

अंतः---प्रति में पत्र ९२ से ९५ तक नहीं होने के कारण अन्त नहीं मिल सका पर जैन गुर्ज्जर कविओ भाग १ पृ० ९ में उद्धृत सुगन्ध दसमी कथा के पद्यों से ज्ञात होता है कि इसकी पूरी प्रति जसवंतसागर के जैनमन्दिर में है ।

२१ चौदह गुण ठाण ? विधान कथा ।

इसका भी प्रारम्भिक भाग व अन्त भाग प्रति के मध्य पत्रों के न मिलने एवं अपूर्ण रह जाने से प्राप्त नहीं है । इस व्रत कथा का नाम भी आदि अन्त के न होने से निश्चित नहीं कहा जा सकता पर २-३ उल्लेखों से उपर्युक्त नाम ही सम्भव है । वे उल्लेख ये हैं ।

गुणठाण वासाइं पुज्जतिणिरु जामं अमुणा पयारेण विहिएहदिव ताम ।
× × ×
अउदहवरिसंतह उज्जवणु जं किज्जइ भवियण हो पुण्णु ।
× × ×
गुण ठाण सत्थाइं लेहाविऊणं सुदिज्जन्ति निग्गंत्थवेसेसुगुणं
× × ×

प्रति के अंत पत्र प्राप्त न होने से कहा नहीं जा सकता कि प्रति में और कौनसी रचनायें थीं ।

प्रति परिचय---प्रस्तुत प्रति बीकानेर के श्रीजिनचारित्रसूरि संग्रह की है इसके पत्रों की संख्या १०० है प्रत्येक में १०, ११ पंक्तियाँ एवं प्रति पंक्ति अक्षर ३६ के लगभग हैं । कागज काफी मजबूत है । अनुमानतः, यह प्रति १६ वीं शताब्दी की लिखी हुई प्रतीत होती है ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

# अपभ्रंश भाषा का काल

(ले०—श्रीयुत पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

भारत की प्राचीन संस्कृत, प्राकृत और पालि आदि भाषाओं को जो साहित्यिक महत्व प्राप्त हुआ है वही महत्व प्रायः अपभ्रंश भाषा को भी प्राप्त हुआ जान पड़ता है। इस भाषा के विपुल एवं विशाल साहित्य की ओर दृष्टिपात करने से संदेह को इसमें कोई गुंजाइश नहीं रहती। साहित्य की विशालता एवं महत्ता से ही उसके अभ्युदय एवं विकास का इतिवृत्त जाना जा सकता है। अपभ्रंश भाषा का जो भी थोड़ा सा साहित्य प्रकाश में आ पाया है उससे उसकी प्रौढता, गंभीरता और प्रतिष्ठा का अनुमान किया जा सकता है। जैन समाज में इस भाषा के साहित्य की विपुलता देखी जाती है। श्वेताम्बर समाज की अपेक्षा दिगम्बर समाज में संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, तामिल और तेलगु आदि भाषाओं की तरह अपभ्रंश का भी विशाल साहित्य दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि इस भाषा में अधिकतर पुराण-चरित्र एवं कथा साहित्य की ही सृष्टि हुई है। परन्तु इस भाषा का कोई दार्शनिक ग्रंथ अभी तक देखने में नहीं आया। इस भाषा की साहित्यिक विशालता को देखकर यह कहने में कोई संकोच नहीं होता कि एक समय ऐसा भी था जब कि यह भाषा सर्व साधारण की बोलचाल की भाषा थी। जैनियों की इस भाषा ने ही हिन्दी भाषा को जन्म दिया है जो आज राष्ट्र भाषा बनती जा रही है। इसके उत्थान-पतन आदि का कोई प्रामाणिक इतिवृत्त अभी तक प्रकट नहीं हुआ जिससे इस भाषा के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त होती। इसका प्रधान कारण साहित्य का अप्रकाशन एवं उसकी एक मुकम्मल सूची का न बनना ही जान पड़ता है। विक्रम की ७वीं शताब्दी से १७वीं शताब्दी तक उत्तरोत्तर रूप से अपभ्रंश भाषा अपने साहित्यिक रूप में दृष्टिगोचर होती है। संभव है कि विक्रम की १७वीं शताब्दी के बाद भी कुछ समय तक यह साहित्यिक भाषा रही हो।

जैन सिद्धांत भास्कर भाग १० किरण २ में पं० रामजी उपाध्याय एम. ए. ने पंडित रइधू के सुकौशल चरित पर एक लेख लिखा है जिसके आरंभ में अपभ्रंश भाषा का साहित्यिक काल १५वीं तक बतलाते हुए सुकौशल चरित को "अपभ्रंश के साहित्यिक जीवन के अन्तिम काल की रचना है। अभी तक अपभ्रंश भाषा का कोई भी ग्रंथ इसके बाद का लिखा हुआ नहीं मिला है।" ऐसा प्रकट किया है।

आपका रइधू के सुकौशल चरित को साहित्यिक जीवन के अन्तिम काल की रचना, मानना ठीक नहीं है। कवि रइधू ने अपभ्रंश भाषा में २३ ग्रंथों की रचना की है† और

†देखो अनेकान्त वर्ष ५।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

वे सब रचनाएँ दिगम्बर ग्रंथ भंडारों में उपलब्ध हैं। उनमें से कुछ रचनाएं ग्वालियर के राजा डूंगरसिंह के पुत्र कीर्ति सिंह के राज्यकाल में भी रची गई हैं। संवत् १५१० के एक मूर्त्ति-लेख से यह स्पष्ट है कि संवत् १५१० तक ग्वालियर की राज्यसत्ता राजा डूंगरसिंह के ही हाथ में थी* उस समय तक राज्य का उत्तराधिकार उनके पुत्र कीर्त्तिसिंह को प्राप्त नहीं हुआ था। चूंकि रइधू ने अपनी 'सम्यक्त्व कौमुदी' राजा कीर्त्तिसिंह के राज्यकाल में बनाई है; अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि संवत् १५१० के बाद जब कभी राजसत्ता कीर्त्तिसिंह के हाथ आई, तब सम्यक्त्व कौमुदी का निर्माण किया गया। ऐसी हालत में रइधू का सुकौशलचरित साहित्यिक जीवन के अन्तिमकाल की रचना नहीं हो सकता, उक्त चरित के बाद भी कवि ने कई ग्रन्थों की रचना की है जो सोलहवीं शताब्दी का प्रारंभिक भाग कहा जा सकता है; और इसके बाद भी १६वीं १७वीं शताब्दी में अपभ्रंश भाषा में ग्रन्थों का निर्माण कार्य हुआ है, जिससे उक्त चरित उस भाषा के अन्तिमकाल की रचना किसी तरह नहीं कहा जा सकता।

अब मैं पाठकों की जानकारी के लिये १५वीं शताब्दी के बाद के दो तीन अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थों का सामान्य परिचय देकर इस लेख को समाप्त करता हूं।

कवि माणिक्यराज ने 'नागकुमार चरित्र' की रचना विक्रम सं० १५७९ में फाल्गुण शुक्ला ९ मी के दिन की है। इस ग्रन्थ की एक खंडित प्रति जयपुर स्टेट की प्राचीन राजधानी आमेर या अम्बेर के भट्टारक महेन्द्र कीर्ति के ग्रन्थ भण्डार में है जिसकी पत्र संख्या १२४ है उसमें आदि के दो पत्र नहीं हैं। प्रति लिपि सं० १५९२ की है। इसमें नौ संधियां हैं ग्रन्थ की आनुमानिक श्लोक संख्या ३३०० है। ग्रन्थ में कर्ता का कोई परिचय नहीं मिला। कवि माणिक्यराज ने इस ग्रन्थ को चौधरी जगती के पुत्र राज रंजण चौधरी टोडरमल्ल को समर्पित किया है। और टोडरमल्ल ने संतुष्ट होकर ग्रन्थकर्ता का वस्त्राभूषणादि के द्वारा यथोचित सत्कार किया है। कवि ने टोडरमल्ल को देव, शास्त्र, गुरु का भक्त, चार प्रकार के संघ का संपोषक, दयालु तथा अपने परिवार का पालक एवं धर्मनिष्ठ बतलाया है।+

---

*सिद्धि संवत् १५१० वर्षे माघ सुदी ८ अष्टम्यां श्री गोप गिरौ महाराजाधिराज राजाश्री डंगरडूंगरेन्द्र राज्य प्र० (प्रवर्तमाने) श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये भट्टारक श्रीचेमकीर्ति देवा.....। देखो जैनलेख संग्रह भाग १ पृ० ९३

+विक्कम रायह ववगयकालें ले समुणीस विसर अंकालें।
पणरह सइ गुएणासियउरवालें। फागुण चंदिण पक्खि ससि वालें।
णवमी सुह णक्खित्तु सुहवालें।.....।
× × × ×
सिरि पिरथी चंदु पसायं सुंदरु। हुउ परि पुण्णु कव्वुरसमंदिरु।

—नागकुमार चरित्र पत्र १२५

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

दूसरा ग्रन्थ शांतिनाथ चरित्र है जिसके कर्ता इल्लराज के पुत्र महिंदु या महाचंद्र हैं। इन्होंने इस ग्रन्थ की रचना योगिनीपुर (दिल्ली) में बाबर बादशाह के राज्यकाल में विक्रम सं० १४८७ के कार्तिक मास के प्रथम पक्ष की पंचमी के दिन पूर्ण की है। जैसा कि उसकी प्रशस्ति के निम्न पद्य से प्रकट है :—

विक्कमरायहु ववगयकालइ रिसिवसुसरभुवि अंकालइ।
कत्तिय पढ़म पक्खि पंचम दिणि हुउ परिपुण्ण वि उग्गंतइ इणि॥

इस ग्रन्थ का परिचय अनेकान्त वर्ष ५ किरण ६-७ में दिया जा चुका है।

तीसरा ग्रन्थ मृगांक लेखा चरित्र है, जिसके कर्ता पं० भगवतीदास हैं, जो देहली गद्दी के भट्टारक माहिंद्र या महेन्द्रसेन के शिष्य थे। इनका विशेष परिचय किसी दूसरे ही स्वतंत्र लेख द्वारा दिया जायगा। इसकी रचना विक्रम सं० १७०० के अगहन सुदी पंचमी सोमवार के दिन हिसार के वर्द्धमान चैत्यालय में हुई है जैसा कि उसके निम्न प्रशस्ति पद्यों से प्रकट है '—

घत्ता—सगदह सय संवदती तहं विक्कमराय महप्पए।
अगहण सिय पंचमि सोमदिणे पुण्ण ठियउ अवियप्पए॥१५॥
दुवई—चरिउ मइंकलेह चिरु णंदउ। जाम गयणि रवि-ससिहरो।
मंगल यारुह वइजणि मेइणि धम्मपसंभाहि द करो ? ॥१६॥
गाथा—रइओ कोटि हिसारे जिणहरि वरवीर वड्ढमाणस्स।
तत्थठियो वयधारो जोईदासो वि बंभयारीओ॥१७

× × × ×

इयरिचंद लेहकहाएरंजिय बुहचित्त सहाए भट्टारक सिरि मुणि माहिंदसेण सीसु विबुह भगवइदास विरइए ससिलेहा सग्ग गमण इत्थिलिंग छेउ इंद पयवी पप्पणं सायरचंद णिव्वाण गमणं तव दीरवर साहणं णामचउत्थो संधि परिच्छेओ सम्मत्तो। इति श्रीपंडिगवतीदासकृत मृगांकलखा चरितं सम्पूर्ण समाप्तं।४।

ऊपर के समस्त विवेचन पर से यह स्पष्ट है कि अपभ्रंश भाषा केवल १५ वीं शताब्दी तक ही साहित्यिक भाषा नहीं, किन्तु १६वीं, १७वीं शताब्दियों में भी साहित्यिक रचनाएं होती रहीं हैं। रइधू का सुकौशल चरित भी अपभ्रंश के साहित्यिक जीवन के अन्तिम काल की रचना नहीं है।

---

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

# क्या समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन हैं ?

( ले०— न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन, कोठिया )

'अनेकान्त' वर्ष ५ किरण १२ में 'स्वामी समन्तभद्र और दिग्नाग में पूर्ववर्ती कौन ?' शीर्षकके साथ मैंने एक लेख लिखा था। इस लेखमें स्वामी समन्तभद्र और बौद्ध विद्वान् दिग्नागके साहित्यका तुलनात्मक अन्तः परीक्षण करके यह स्थिर किया है कि स्वामी समन्तभद्र दिग्नाग (४२५ A. D.) के पूर्ववर्ती विद्वान् हैं। साथ ही दिग्नागके उत्तरवर्ती भर्तृहरि, कुमारिल और धर्मकीर्तिके भी साहित्यके साथ समन्तभद्रके साहित्यका अन्तः परीक्षण करके इन विद्वानों से भी समन्तभद्रको पूर्ववर्ती प्रकट किया है। यह लेख अनेक विद्वानोंको पसंद आया और मुझे उन कारणोंपर भी प्रकाश डालनेके लिये प्रेरित किया, जिन कारणोंके आधारपर कुछ विद्वानोंने समन्तभद्रको दिग्नाग और धर्मकीर्तिका उत्तरवर्ती बताया है। यद्यपि मेरे उपर्युक्त 'अनेकान्त' वाले लेखके बाद इन कारणोंका अधिक महत्त्व नहीं रहता और इसलिये इनपर विचार करना खास आवश्यक नहीं है—उन विद्वानोंको उक्त लेख में ही इसका पर्याप्त उत्तर मिल जाता है तथापि यह विषय और अधिक स्पष्ट हो जाय और दूसरे विद्वानों तथा पाठकोंको भी इस सम्बन्धमें कोई भ्रम या संदेह न रहे। अतः इन कारणोंपर आज इस लेख द्वारा विचार किया जाता है।

**कारण :—**

१ समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके चौथे परिच्छेदमें वर्णित "विरूपकार्यारम्भाय" आदि कारिकाओंकी समीक्षा करने से ज्ञात होता है कि समन्तभद्रके सामने संभवतः दिग्नागके ग्रन्थ भी रहे हैं। बौद्ध दर्शन की इतनी स्पष्ट विचारधाराकी संभावना दिग्नागसे पहिले नहीं की जा सकती।' —न्यायकु० द्वि० भा० प्र० पृ० २७

२ 'अधिक संभव तो यह है कि समन्तभद्र और अकलङ्कके बीच साक्षात् विद्याका ही सम्बन्ध हो; क्योंकि समन्तभद्रकी कृतिके ऊपर सर्व प्रथम अकलङ्कने ही व्याख्या है।'
—अकलङ्क ग्रन्थ० प्रा० पृ० ९

३ 'यह भी संभव है कि शान्तिरक्षितके तत्त्वसंग्रहगत पात्र स्वामी, शब्द स्वामी समन्तभद्रका ही सूचक हो।'—अकलङ्क ग्र० प्रा० पृ० ९

४ समन्तभद्रके साथ धर्मकीर्तिका विचार और शब्द का साम्य पाया जाता है। 'दिग्नागके प्रमाण-समुच्चयगत मङ्गल श्लोकके ऊपर ही उसके व्याख्यान रूपसे धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकका प्रथम परिच्छेद रचा है। जिसमें धर्मकीर्तिने प्रमाणरूपसे सुगतको ही स्थापित किया है। ठीक उसी तरहसे समन्तभद्रने भी पूज्यपादके 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' वाले मंगलको लेकर उसके ऊपर आप्तमीमांसा रची है और उसके द्वारा जैन तीर्थंकरको ही आप्त प्रमाण स्थापित किया है यह तो विचार-साम्य हुआ। शब्द-साम्य भी है। 'धर्मकीर्तिने सुगतको 'युक्त्यागमाभ्यां विमृशन्' ( प्रमाण वा० १।१३५ ) 'वैफल्याद् वक्तिनानृतम्'

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(प्रमाणवा० १।१४७) कह कर अविरुद्धभाषी कहा है। समन्तभद्रने भी 'युक्ति-शास्त्राविरोधि-वाक्' (आप्तमी० का० ६) कह कर जैन तीर्थंकरको सर्वज्ञ स्थापित किया है।' अतः समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन हैं। —न्यायकु० द्वि० प्रा० पृ० १८, १९

५ 'समन्तभद्रके 'द्रव्यपर्याययोरैक्यं' तथा 'संज्ञासंख्याविशेषाच्च' (आप्त मी० का० ७१,७२) इन दो पद्योंके प्रत्येक शब्दका खंडन धर्मकीर्तिके टीकाकार अर्चट (९०० A. D.) ने किया है न कि धर्मकीर्तिने। अतः कमसे कम समन्तभद्र धर्मकीर्तिके पूर्वकालीन तो हो ही नहीं सकते। —न्याय कु० द्वि० प्रा० पृ० १९, २०

## उपर्युक्त कारणों पर विचार :—

ये पांच कारण हैं। इन कारणों में प्रथम कारण के उद्भावक तो न्यायाचार्य पं० महेन्द्र-कुमारजी हैं और वे समन्तभद्रको दिग्नागका उत्तरकालीन अनुमानित करते हैं। शेष चार कारणोंको श्रीमान् पं० सुखलालजीने प्रस्तुत किया है और ये समन्तभद्रको धर्मकीर्तिका परवर्ती बतलाते हैं। यद्यपि ये प्रायः सभी कारण अपने वर्तमान रूपमें संभावनारूप ही हैं—कोई निर्णय रूप नहीं हैं और जिससे यह मालूम होता कि इन कारणोंके प्रस्तावित दोनों ही विद्वान् अभी और भी विचार करनेको प्रस्तुत हैं, इतना ही नहीं किन्तु—प्रामाणिक सूचना मिलने पर इन कारणोंके सम्बन्धमें भी पुनर्विचार कर सकते हैं, ऐसी भी मुझे आशा है। अतः इन पांचों ही कारणों पर यहां क्रमशः विचार किया जाता है, जिससे यह निर्णय हो सके कि वस्तुतः उक्त कारण समन्तभद्रको दिग्नाग और धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन सिद्ध करनेमें समर्थ हैं कि नहीं ?

## दिग्नागके उत्तरवर्तित्वकी मान्यतापर विचार :—

१ समन्तभद्रकी 'विरूपकार्यारम्भाय' आदि जिन कारिकाओंकी समीक्षाके आधारपर समन्तभद्रको दिग्नागका उत्तरवर्ती प्रतिपादन किया है यदि उन कारिकाओंका समीक्षा दिग्नागके पूर्ववर्ती प्रसिद्ध बौद्धतार्किक नागार्जुनके ग्रन्थोंके साथ की जाय तो स्पष्टतः मालूम हो जाता है कि समन्तभद्रके सामने नागार्जुनके ग्रन्थ रहे न कि दिग्नागके। नमूनेके[1] तौर पर यहां एक उदाहरण उपस्थित किया जाता है। बौद्ध विद्वान् नागार्जुन कहते हैं :—

अथ ते प्रमाणसिद्ध्या प्रमेयसिद्धिः प्रमेयसिद्ध्या च।
भवति प्रमाणसिद्धिः नास्त्युभयस्यापि ते सिद्धः॥ —विग्रहव्या० का० ४७

स्वामी समन्तभद्र कहते हैं :—

याद्यापेक्षिक सिद्धिः स्यान्न द्वयं व्यवतिष्ठते। —आप्तमी० का० ७३

---

१ विशेष रूपसे जाननेके लिये 'नागार्जुन और समन्तभद्र' शीर्षक अप्रकाशित लेखकी प्रतीक्षा करें जो मैं शीघ्रही प्रकट करने वाला हूँ और जिसमें नागार्जुन और समन्तभद्रके साहित्यका आभ्यन्तर परीक्षण करके समन्तभद्रको नागार्जुनका समकालीन या कुछही समय बादका विद्वान् स्थिर किया है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

नागार्जुन कहते हैं :—

यदि च प्रमेयसिद्धिरनपेक्ष्यैव भवति प्रमाणानि ।
किन्ते प्रमाणसिद्धया तानि यदर्थं प्रसिद्धं तत् ॥ विग्रहव्या० का० ४५

आ० समन्तभद्र भी इसी बातको कहते हैं :—

अनापेक्षिकसिद्धौ च न सामान्य-विशेषता । —आप्तमी० का० ७३

नागार्जुन पुनः कहते हैं :—

यदि च स्वतः प्रमाणसिद्धिरनपेक्ष्य ते प्रमेयाणि ।
भवति प्रमाणसिद्धिः न परापेक्षा हि सिद्धिः ॥ —विग्रहव्या० का० ४१

समन्तभद्र उक्त वाक्योंके आधार पर अनेकान्तदृष्टिसे व्यवस्था करते हुये कहते हैं :—

धर्मधर्म्यविनाभावः सिद्ध्यत्यन्योन्यवीक्षया ।
न स्वरूपं स्वतोहेयतत् कारकज्ञापकाङ्गवत् ॥ —आप्तमी० ७५

पाठक देखेंगे, यहां समन्तभद्र और नागार्जुन में कितना स्पष्ट विचार और शब्दका साम्य है ; जो हमें बतलाता है कि समन्तभद्रके समक्ष नागार्जुनके ग्रन्थ रहे दिग्नाग के नहीं। दिग्नागके ग्रन्थोंका सद्भाव तो उस हालतमें माना जा सकता था जब उनमें प्रतिपादित विचार दिग्नागसे पूर्व संभावित न होता और समन्तभद्रके ग्रन्थोंमें दिग्नागके ही किसी ऐसे विचारका आलोचन या अनुसरण पाया जाता जो खास दिग्नागका ही होता; किन्तु हम देखते हैं कि ऐसे विचारोंका, जिनका उद्भव सीधा दिग्नागसे है, आलोचन या अनुसरण समन्तभद्रके ग्रन्थोंमें नहीं पाया जाता। प्रत्युत समन्तभद्रका आलोचन दिग्नागने किया है। दार्शनिक युगमें 'अज्ञान-निवृत्ति' को प्रमाणका फल कहनेवाले सर्व प्रथम जैन तार्किक स्वामी समन्तभद्र हैं और उसका खण्डन दिग्नागने 'अज्ञान-निवृत्ति' को असत् बतलाकर किया है।[1] अतः स्पष्ट है कि दिग्नागके ग्रन्थ समन्तभद्रके सामने नहीं रहे। बौद्धदर्शनकी जिस स्पष्ट विचार-धाराको दिग्नागसे मानते हैं और उसके पूर्व उसके न होनेकी संभावना प्रकट करते हैं वह ठीक नहीं है क्योंकि नागार्जुन और वसुबन्धुके, 'माध्यमिका', 'विग्रहव्यावर्तनी', 'विंशतिका-विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' और 'त्रिंशिका-विज्ञप्तिकारिका' आदि प्रकरण ग्रन्थोंका ध्यानसे सूक्ष्म समीक्षण किया जाय तो हम उनमें उक्त बौद्धदर्शनकी स्पष्ट विचारधारा पाते हैं। वस्तुतः तर्क विकास यहींसे शुरू हुआ है जो दिग्नाग और धर्मकीर्ति आदिके द्वारा उसी प्रकार पूर्णताको प्राप्त हुआ है जिस प्रकार जैनदर्शनका तर्क विकास समन्तभद्र और सिद्धसेनसे शुरू होकर अकलङ्क और विद्यानन्द आदिके द्वारा चरम सीमाको प्राप्त हुआ है। इसलिये समन्तभद्रको दिग्नागसे उत्तरकालीन माननेके लिये जो 'बौद्धदर्शनकी इतनी स्पष्ट विचार

१ देखो पूर्वोल्लिखित 'समन्तभद्र और दिग्नागमें पूर्ववर्ती कौन ?' लेख 'अनेकान्त' वर्ष ५ किरण १२

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

धाराको संभावना दिग्नागसे पहिले नहीं की जा सकती' रूप हेतु प्रस्तुत किया गया है वह अव्यभिचारी नहीं है क्योंकि उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि नागार्जुनादि प्रसिद्ध बौद्ध तार्किकोंके ग्रन्थोंमें बौद्धदर्शनकी स्पष्ट विचारधारा पायी जाती है और इसलिये समन्तभद्र दिग्नागके उत्तरवर्ती नहीं हैं किन्तु दिग्नागके पूर्ववर्ती और नागार्जुनके ( १८१ A. D. ) उत्तरकालीन या सम-सामयिक हैं।

यहाँ मैं इतना और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि समन्तभद्रकी 'विरूपकार्यारम्भाय' आदि जिन कारिकाओंका हवाला दिया गया है और फलितार्थरूपमें यह कहा गया है कि उक्त कारिकाएँ दिग्नागके विचारोंका खण्डन करनेके लिये समन्तभद्रने रची हैं, वह ठीक नहीं जान पड़ता; क्योंकि जिन विचारोंका खण्डन उक्त कारिकाओंमें पाया जाता है वह विचार नागार्जुनकी निम्न कारिकामें भी है :—

सर्वेषां विसभागानां[1] सभागानां च कर्मणाम्।
प्रति सन्धौ सधातूनामेक उत्पद्यते तु सः॥

—माध्यमिका कारिका पृ० ११४ (कल० सं०)

समन्तभद्रकी उक्त कारिकागत 'विरूपकार्य' शब्द विसभाग' के लिये ही आया है। यदि पंडितजी दिग्नागके उन शब्दोंका भी उल्लेख कर देते जिनके साथ समन्तभद्रकी उक्त कारिकाओंकी समीक्षा की गई है तो उन शब्दोंपर भी विचार कर लिया जाता। अस्तु, दिग्नागके पूर्ववर्ती कितनेही बौद्ध तार्किकोंका साहित्य भी आज उपलब्ध नहीं है अतः यह भी संभव है कि समन्तभद्रकी उक्त कारिकाओंमें उक्त बौद्ध तार्किकोंके विचारोंकाही खण्डन निहित हो। अतः प्रथम कारण समन्तभद्रको दिग्नागका उत्तरवर्ती सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है।

## धर्मकीर्तिके उत्तरवर्तित्वकी मान्यतापर विचार :—

२ दूसरे कारणके सम्बन्धमें मेरा निम्न प्रकार निवेदन है :—

(क) किसीकी कृतिका सर्व प्रथम टीकाकार होना या न होना उन दोनोंके बीच साक्षात् विद्याके सम्बन्धका साधक या बाधक नहीं है (क) धर्मकीर्ति (६२५ A. D.) के वादन्यायपर जो दो टीकायें उपलब्ध हैं वे विनीतदेव (७७५ A. D.)और शांत रक्षित ( ८२५ A. D. ) की हैं। इनमेंसे वादन्यायके सर्वप्रथम टीकाकार विनीतदेव हैं। किन्तु धर्मकीर्ति और विनीतदेवमें साक्षात् विद्याका सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि विनीतदेव धर्मकीर्तिसे प्रायः डेढ़ सौ वर्ष बाद हुये हैं।

१ (क) 'भिन्न जातीयानि कर्माणि विसभागानि सदृशानि सभागानि.....' माध्य० वृ० पृ० ११४
(ख) 'विसदृश रूपं विरूपं कार्यम्'.....'सभागविसभागावक्लृप्ति
प्रतिपत्त्रभिप्रायवशात्समनुगच्छन् सहेतुकं विनाशं.....' अष्टस० पृ० १६८, १६६

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(ख) श्वेताम्बर परम्परामें प्रसिद्ध उमास्वातिके तत्वार्थसूत्र और उसके भाष्यपर, जिसका समय विक्रमकी तीसरीसे पांचवीं शताब्दी तकका अनुमानित किया जाता है[1] सर्व प्रथम टीकाएँ ८-९ वीं सदीके विद्वान् सिद्धसेन गणी और हरिभद्र की हैं किन्तु उमास्वातिके साथ इनका साक्षात् विद्याका सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि ये दोनोंही आचार्य उमास्वातिसे प्रायः ३००-४०० वर्ष बाद हुये हैं।

(ग) समन्तभद्रके 'युक्त्यानुशासन' और 'स्वयम्भूस्तोत्र' के सर्व प्रथम टीकाकार क्रमशः विद्यानन्द (९ वीं शताब्दी) और प्रभाचन्द्र (११ वीं शताब्दी) हैं। पर इनका समन्तभद्रके साथ साक्षात्-विद्याका सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि ये दोनोंही आचार्य समन्तभद्रसे बहुत बादके विद्वान् हैं।

(घ) सिद्धसेन 'दिवाकर' के, जिनका समय 'न्यायावतार' के साहित्यिक आभ्यान्तर परीक्षणसे ईसाकी सातवीं शताब्दी सिद्ध होता है और जिसे स्वयं पंडितजीने भी स्वीकार किया है, न्यायावतारके सर्व प्रथम टीकाकार सिद्धर्षि (१०वीं शताब्दी) हैं। किन्तु सिद्धसेन दिवाकर और सिद्धर्षिमें साक्षात् विद्याका सम्बन्ध नहीं है क्योंकि सिद्धर्षि सिद्धसेन दिवाकरसे स्पष्टतः ३००-४०० वर्ष बाद हुये हैं।

ऐसे कितनेही उद्धरण और दिये जा सकते हैं कि ग्रन्थकार और उसके सर्व प्रथम टीकाकारमें साक्षात् विद्याका सम्बन्ध नहीं है। अतः किसीकी कृतिका 'सर्व प्रथम टीकाकार होना' साक्षात् विद्याके सम्बन्धका अव्यभिचरित साधन नहीं है—वह उसका व्यवस्थापक नहीं है। ऐसी हालतमें समन्तभद्रकी कृतिके सर्व प्रथम टीकाकार रूप साधनके द्वारा समन्तभद्र और अकलङ्कके बीच 'साक्षात् विद्याकाही सम्बन्ध' रूप साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती और न उनके द्वारा समन्तभद्रको अकलङ्कका समकालीन बतलाकर धर्मकीर्तिका उत्तरवर्ती कहा जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि आप्तमीमांसाकी व्याख्या अष्टशती-साहित्यका अध्ययन करनेपर यह मालूम भी नहीं होता कि समन्तभद्र और अकलङ्कके बीच गुरु-शिष्य का सम्बन्ध रहा होगा। बल्कि स्पष्टतः यही प्रतीत होता है कि अकलङ्क समन्तभद्रके बहुत बाद हुये हैं और उन्हें आप्तमीमांसा कितनेही पाठभेदोंके साथ प्राप्त हुई थी। मैं यहां एक ऐसा नमूना उपस्थित करता हूँ जिसपरसे पाठक यह सहजमें जान सकेंगे कि वस्तुतः समन्तभद्र अकलङ्कके बहुत पहिले हो चुके थे और उन्हें समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा पाठभेद के साथ मिली थी। अकलङ्कदेव आप्तमीमांसाकी एक कारिकाके एक पदका व्याख्यान करते हुये उसके अनेक पाठभेद दिखलाते हैं और 'पाठान्तर मिदं बहु संगृहीतं भवति' जैसे शब्दोंका प्रयोग करते हैं। अष्टशतीका वह स्थल निम्न प्रकार है।

---

१ देखो 'ज्ञान विन्दु' प्रस्तावना पृष्ट ५४

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

'सपक्षविपक्षयोर्भावाभाभ्यां साधनवत् । स्वभेदैर्वा संवेदनवत् । सारम्भकावयवैर्वा घटादिवत् । तादृशं हि साधनं स्वार्थक्रियायाः तदन्तरेणापि पाठान्तरमिदं बहु संगृहीतं भवति' ३ आप्तमी० का० ३३

इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्र अकलंकके बहुत पहिले हो चुके थे। यदि इनमें साक्षात् विद्याका सम्बन्ध होता तो अकलंक अपने गुरु समन्तभद्रके मुखसे पढ़े सुने पाठको ही रखकर व्याख्यान करते पाठान्तरकी कल्पना न करते। साथही समन्तभद्रको विवक्षित और अति प्रसिद्ध पाठकेही अनेक अर्थ करते हुये भी 'पाठान्तरमिदं बहु संगृहीतं भवति' जैसे शब्दोंका वे कदापि प्रयोग न करते। अतः प्रकट है कि समन्तभद्र और अकलंकमें साक्षात् विद्याका सम्बन्ध नहीं रहा और न समन्तभद्रके तुरन्तही अकलंक हुये हैं। किन्तु कई शताब्दी बाद हुये जान पड़ते हैं।[1]

३ तीसरे कारणके सम्बन्धमें मुझे यह कहना है कि संभावना ऐसी होनी चाहिये, जिसके कुछ आधार प्रमाण हों। हमें आश्चर्य है कि पं० सुखलालजी जैसे सूक्ष्म दृष्टिवाले दार्शनिक और ऐतिहासिक विद्वान् शांतरक्षितके तत्त्वसंग्रहमें मात्र स्वामी पदोपलक्षित पात्र-स्वामीके नामको देखकर उन्हें समन्तभद्र स्वामी होनेकी संभावना कर लेते हैं। शांतरक्षितने जब तत्त्वसंग्रहमें एकही जगह नहीं, अनेकों जगह पात्रस्वामीके नामसे उनके वाक्यों और कारिकाओंको उद्धृत किया है[2] तब पात्रस्वामी समन्तभद्र स्वामी कैसे संभवित हो सकते हैं? प्रथम तो यह कि दिगम्बर साहित्यमें समन्तभद्र स्वामीसे पात्रस्वामी जुदेही स्वीकार किये गये हैं और दोनोंकी जुदी जुदी कृतियाँ हैं। दूसरे यदि शांतरक्षित जैसे बहुश्रुत बौद्ध विद्वान्की दृष्टिमें पात्रस्वामी और समन्तभद्र स्वामी एक होते तो वाचस्पति मिश्रकी तरह आप्तमीमांसाकी कारिकाओंको भी वे उद्धृत करते और उनका खंडन करते। तीसरे शान्तरक्षितने जिन वाक्यों और श्लोकोंको पात्रस्वामीके नामसे उद्धृत किया है वे वाक्य और श्लोक कोई भी समन्तभद्रकी वर्तमान आप्तमीमांसादि कृतियोंमेंसे किसीमें भी नहीं पाये जाते हैं। चौथे शान्तरक्षितने पात्रस्वामीका कहकर जिस 'अन्यथानुपपन्न' वाले श्लोकको उद्धृत करके खंडन किया है और जो पात्रस्वामीके 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामक अनुपलब्ध ग्रन्थकाही जान पड़ता है उसे अकलङ्क विद्यानन्दादि जैनाचार्योंने भी पात्रस्वामीकाही स्पष्टतया प्रतिपादन किया है। यदि

१ मालूम पड़ता है कि अकलङ्क ग्रन्थत्रयके प्राक्कथनमें 'समन्तभद्र और अकलङ्कके बीच साक्षात् विद्याका सम्बन्ध माननेपर पंडितजीको जब बादमें ऊपर जैसी आपत्तियां मालूम पड़ी हैं तब इसीसे वे न्यायकु० द्वि० भागके प्राक्कथनमें उक्त सम्बन्धको कुछ अस्वीकार भी करते हुये पाये जाते हैं। परन्तु वहां भी 'अगर' जैसे अनिर्णायक शब्दोंका प्रयोग करते हैं जिनसे पाठक भ्रममें पड़े वगैर नहीं रह सकते।

२ देखो, तत्त्वसंग्रह पृ० ४०६, ४१५

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

समन्तभद्र और पात्रस्वामी एक होते और अन्यथानुपपन्नत्व आपकी दृष्टिमें समन्तभद्रका है तो ये जैनाचार्य भी उसे समन्तभद्रके नामसेही प्रकट करते। किन्तु ऐसा नहीं है, सभीने समन्तभद्रसे पृथक् पात्रस्वामीके नामसेही उसका उल्लेख किया है। ऐसी हालतमें उक्त संभावना तत्त्वसंग्रहगत पात्रस्वामी समन्तभद्र हैं बिल्कुल निराधार और निष्प्रमाणिक जैसी है। ऐसी कच्ची संभावनाओंको स्थायी साहित्यमें देनेसे बड़ी भारी हानि हो सकती है। अतः यह साफ है कि तत्त्वसंग्रहगत पात्रस्वामी और समन्तभद्र स्वामी एक व्यक्ति नहीं हैं, भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं।

४ चौथे कारण के विषयमें मेरा निम्न प्रकार कथन है :—

प्रथम तो समन्तभद्र जब दिग्नागके पूर्ववर्ती हैं तो दिग्नागके उत्तरवर्ती धर्मकीर्तिके ग्रन्थमें यदि किसी विषयमें समन्तभद्रके विचारके साथ धर्मकीर्तिका कोई विचार मिलता जुलता पाया जाता है तो वह समन्तभद्रकाही आभारी है—अर्थात् उनकी आप्तमीमांसासेही लिया हुआ वह धर्मकीर्त्तीय विचार है।

दूसरे, धर्मकीर्तिने प्रमाण-समुच्चय गत 'प्रमाणभूताय' मंगल पद्यको लेकर प्रमाणवार्तिक या उसके प्रथम परिच्छेद (द्वितीय परिच्छेद ?) की रचनाही नहीं की है। बात यह है कि जैमिनीसूत्र और उसके शबर-भाष्य तथा न्यायसूत्र और उसके वात्स्यायन-भाष्यका खंडन करनेके लिये 'प्रमाणसमुच्चय' आदि प्रकरण ग्रन्थ रचे थे। बादमें हुये उद्योतकर और भट्ट कुमारिलको जब दिग्नागके उक्त ग्रन्थ मिले और उनमें अपने पूर्वजोंके सिद्धान्तोंका खण्डन उन्हें मिला तो दिग्नागके ग्रन्थों और बौद्ध सिद्धान्तोंका खंडन करने तथा स्वमत स्थापित करनेके लिये उद्योतकरने 'न्यायवार्त्तिक' और कुमारिलने 'मीमांसाश्लोक वार्त्तिक' की रचना की। न्यायवार्तिक जहां गद्यात्मक वार्तिक ग्रन्थ है वहां मीमांसा श्लोक वार्तिक पद्यात्मक वार्तिक ग्रन्थ है। उपलब्ध दार्शनिक साहित्यमें जहां तक मुझे मालूम है दार्शनिक युगमें वार्तिक ग्रन्थोंकी रचनाका प्रारंभ प्रायः इन्हीं दोनों वार्तिक ग्रन्थोंसे हुआ है। बौद्ध तार्किक धर्मकीर्तिको भी जब ये दोनों वार्तिक ग्रन्थ मिले और उनमें अपने अग्रज दिग्नाग प्रभृतिका खंडन देखा तो ब्याज सहित उक्त बदला चुकानेके लियेही धर्मकीर्तिने 'प्रमाणवार्तिक' सटीक पद्यबंध ग्रन्थकी रचना की, जो उक्त वार्तिक ग्रन्थोंका अपने नामकरणमें भी पूरा आभारी है। इस तरह धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक' की रचना उद्योतकर और कुमारिलके जवाबकाही सबल प्रयत्न है न कि प्रमाण-समुच्चयके 'प्रमाणभूताय' मंगल पद्यको लेकर मुख्यतः उसकी रचना हुई है। हमारे इस कथनकी पुष्टि ईसाकी ९वीं शताब्दी (८४१ ई.) के विद्वान् वाचस्पति मिश्रके न्यायवार्तिक तात्पर्य टीकागत निम्न उल्लेखसे भी हो जाती है। यथा—

'यद्यपि भाष्यकृता (वात्स्यायनेन) कृतव्युत्पादनमेतत् तथापि दिग्नागप्रभृतिभिस्त्वर्वाचीनैः

कुहेतुसन्तमससमुत्थापनेनाच्छादितं शास्त्रं न तत्वनिर्णयाय पर्याप्तमित्युद्योतकरेण स्वनिबन्धोद्योतेन तदपनीयत इति प्रयोजनवानयमारम्भ इति,—न्या० ता० पृ० २

यहां वाचस्पति मिश्रने स्पष्टतया बतलाया है कि यद्यपि न्यायदर्शनका व्याख्यान भाष्यकार (वात्स्यायन) ने कर दिया था तथापि दिग्नाग आदि अर्वाचीन कुतार्किकोंने उसे कुतर्करूपी अन्धकारसे आच्छादित कर दिया। अतः वह तत्वनिर्णय करनेके लिये पर्याप्त नहीं है। इसलिये उनके (दिग्नागादिके) कुहेतुरूप अन्धकारको दूर करने और अपने मतका प्रकाश करनेके लिये उद्योतकरने 'न्यायवार्तिक' का उद्योग किया। इस तरह 'न्यायवार्तिक' की रचना सप्रयोजन है इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दिग्नाग प्रतिपादित प्रमाण-समुच्चय गत सिद्धान्तोंका खंडन करनेके लिये 'न्यायवार्तिक' की रचना हुई। इस बातको न्या० पं० महेन्द्रकुमारजी भी मानते हैं जैसा कि उनके निम्न शब्दोंसे प्रकट है :—

'इन्होंने (उद्योतकरने) दिग्नागके प्रमाण समुच्चयके खंडनके लिये न्यायवार्तिक बनाया था·····।'—न्यायकु० द्वि० भा० प्र० पृ० १२

और इस न्यायवार्तिकका खंडन करनेके लिये ही धर्मकीर्तिने अपना प्रमाण वार्तिक रचा था, यह भी इन दोनों ग्रन्थोंका आभ्यन्तर परीक्षण करनेसे स्पष्टतया मालूम हो जाता है। अतः यह मानना होगा कि धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिक या उसके प्रथम परिच्छेद ( द्वितीय परिच्छेद ?) की रचना प्रमाण-समुच्चयके मंगल पद्यको लेकर नहीं की, बल्कि उद्योतकरके न्यायवार्तिक और कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिकके खण्डनके लिये की थी। नाम साम्य भी बड़े मार्केका है और जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

यह दूसरी बात है कि दिग्नागके प्रमाण समुच्चय पर प्रहार करनेवाले उद्योतकरके न्यायवार्तिकका सबल जबाब प्रमाणवार्तिकके द्वारा देनेके साथ धर्मकीर्ति ने प्रमाण समुच्चयगत सिद्धान्तों, वाक्यों, मंगलपदों और हेतुओंका भी सयुक्तिक समर्थन किया है और वह उचित एवं स्वाभाविक ही है। दर्शन-युगमें प्रत्येक दार्शनिकने ऐसाही किया है। अपनेसे भिन्न दर्शन और उसके अनुयायिओंके विचारोंकी आलोचना करके अपने दर्शन और पूर्वजोंके विचारोंका सयुक्तिक समर्थन किया है। हो सकता है, किसी विचारमें अपना मतभेद भी प्रकट किया हो। इस तरह जब प्रमाण समुच्चयके मंगल पद्यपर प्रमाणवार्तिक या उसके किसी परिच्छेदके लिखे जानेकी बात नहीं बनती है तब 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इस मंगल पद्यको पूज्यपादका कहकर उसपर समन्तभद्रके आप्तमीमांसा लिखनेके विचारके साथ धर्मकीर्त्तीय विचारकी उपर्युक्त साम्यता कैसे बिठाई जा सकती है? उपमानकी स्थितिही नहीं तब उपमेयके साथ उसकी संगति बिठाना किसी भी प्रकार संगत नहीं कहा जा सकता। यहाँ मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि पंडितजी, विद्यानन्दके जिन आधारोंपर

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' को पूज्यपादका बतलाते थे वह सब आधार सूत्रकार-उमास्वातिका बतलाते हैं[1], इस बातको अनेक प्रमाणों के साथ 'तत्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' शीर्षक दो लेखों द्वारा स्पष्टकर दिया गया है। अतः उसे अब पूज्यपादका बतलाना बड़ा भारी भ्रम है। आश्चर्य है इस भ्रमकी पुनरावृत्ति ज्ञानविन्दुकी प्रस्तावना पृ० ५५ में भी आपने की है।

इस तरह 'विचार-साम्य' रूप चौथे कारणके एक भागपर विचार करनेके बाद अब मैं दूसरे भाग पर जो शब्द-साम्यकी तरह यह कहा जा सकता है कि समन्तभद्रीय हैं। दूसरे, वह शब्द साम्य भी जैसा होना चाहिये वैसा नहीं है। सुगतको जहां एक जगह धर्मकीर्तिने 'युक्त्यागमाभ्यां विमृशन्' कहकर युक्ति और आगमसे विचार करनेवाला बतलाया है और दूसरी जगह 'वैफल्याद्वक्ति नानृतम्' के द्वारा मिथ्या भाषण न करनेवाला सत्यभाषी बतलाया हैं वहां समन्तभद्रने एकही जगह जैन तीर्थंकरको 'युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्' कहकर मात्र यथार्थवक्ता प्रकट किया है—उसे धर्मकीर्तिकी तरह विचारक नहीं बतलाया। तीसरे युक्ति और आगम जैसे शब्द तो ऐसे हैं जिनका प्रयोग धर्मकीर्तिसे पहिले भी दृष्टिगोचर होता है। हां, यदि इन शब्दोंके प्रयोगका आद्य पुरस्कर्ता धर्मकीर्तिही होता, उसके पहिले बौद्ध या बौद्धेतर साहित्यमें इनका प्रयोग उपलब्ध न होता, तो यह किसी अंशमें मान्य भी था कि धर्मकीर्तिके अमुक शब्दोंको अपनानेके कारण समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती हैं। किन्तु ऐसा नहीं है। अतः शब्द साम्यवाली दलील भी आपत्तियोंसे रहित निरापद नहीं है और इसलिये वह समन्तभद्रको धर्मकीर्तिका उत्तरवर्ती सिद्ध करनेमें असमर्थ है।

५ अब रह जाता है पांचवां कारण सो उसके सम्बन्ध में मेरा निम्न प्रकार कहना हैं। प्रथम तो, यह कोई आवश्यक नहीं है कि कोई उत्तरवर्ती ग्रन्थकार अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारका अपने ग्रन्थमें आलोचन एवं खण्डन करे ही। दूसरे, समन्तभद्रके 'द्रव्यपर्याययोरैक्यं' तथा 'संज्ञासंख्या विशेषाच्च' इन दो पद्योंको और उनके प्रत्येक शब्दका खण्डन यदि धर्मकीर्तिने नहीं किया, उनके टीकाकार अर्चट (९०० D,A.) ने किया है तो इससे समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती सिद्ध नहीं हो जाते और न कहे जा सकते हैं। यदि नागार्जुनके किसी विचार या पद वाक्यका खण्डन अकलङ्कदेवने नहीं किया, उनके टीकाकार विद्यानन्दने किया हो तो क्या नागार्जुन अकलङ्कके उत्तरवर्ती हो जायेंगे ? गौतमीय छल, जाति, निग्रहस्थानोंके सूत्रों और उद्योतकरके अमुक अमुक पद वाक्योंका खण्डन अकलङ्कदेवने नहीं किया है पर

१ विद्यानन्दके उल्लेखोंके अलावा उक्त मंगल श्लोकको सूत्रकार-उमास्वामी कृत बतलानेवाला एक अति स्पष्ट, अभ्रान्त उल्लेख और प्राप्त हुआ है। गोम्मटसार जीवकांडकी 'मंदप्रबोधिनी' नामक संस्कृत बड़ी टीकाके रचयिता सिद्धान्तचक्रवर्ती अ० अभयचन्द्र (१२, १३वीं सदी) उक्त मंगलस्तोत्रको उमास्वामी अपर नाम गृद्धपिच्छाचार्यकाही प्रकट करते हैं। यथा—

'गृद्धपिच्छाचार्येणापि तत्वार्थशास्त्रस्यादौ 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादिना अर्हन्नमस्कारस्यैव परममङ्गलतया प्रथम युक्तत्वात्'—गो० जी० मं० टी० पृ० पृ४

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विद्यानन्दने किया है।[१] इसी तरह भर्तृहरिकी 'आख्यात शब्दः संघातो' और 'पदमाद्यं पदभ्वान्त्यं' (वाक्यय० २, १, २) इन दो पद्योंका खण्डन अकलङ्कदेवने नहीं किया, उनके उत्तरवर्ती विद्यानन्द और प्रभाचन्द्रने किया है।[२] ऐसी हालतमें आपके तर्कानुसार गौतम, उद्योतकर और भर्तृहरिको भी अकलंकके उत्तरवर्ती होना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं है, यह प्रकट है। तीसरे, यह भी संभव है कि समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा शान्तरक्षितकी तरह धर्मकीर्तिको भी उपलब्ध न हुई हो और इसीसे उसने आप्तमीमांसा गत विचारों, पद वाक्योंका खण्डन नहीं किया है। जो ग्रन्थ आजसे कई सौ वर्ष पहिलेके विद्वानोंको नहीं मिल सके वे आज हमें मिल रहे हैं। अतः अनुपलब्धिकी हालतमें धर्मकीर्तिका उक्त पद्योंका खण्डन न करना भी पूर्णतया संभवित है। पांचवें, धर्मकीर्तिने समन्तभद्रकी अन्य दो कारिकाओं ('स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः' और 'सदेव सर्वं को नेच्छेत्') का 'प्रमाणवार्तिक' (२-१८२ और १-१८३, १८५) में 'एतेनैव' 'सर्वस्योभयरूपत्वे' और 'सर्वात्मत्वे च सर्वेषां' इन कारिकाओं द्वारा स्पष्टतया खण्डन कियाही है। जिनका जबाब अकलङ्कदेवने 'न्याय-विनिश्चय (का० १७०, ३७१, ३७२, ३७३ और ३७४) में दिया है। यदि समन्तभद्र, धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन या समकालीन होते तो वे निश्चयही धर्मकीर्तिकी इन कारिकाओंका स्वयं जबाब देते और ऐसी हालतमें अकलङ्कको इनका जबाब देनेका अवसर ही न मिलता। इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती नहीं हैं। यह दूसरी बात है कि धर्मकीर्तिने आप्तमीमांसाका खण्डन करनेके लिये उक्त कारिकाओंको चुना। 'द्रव्यपर्याययोरैक्यं' और 'संख्याविशेषाच्च' इन दो पद्योंको नहीं चुना वाचस्पति मिश्रने भी इन कारिकाओंसे भिन्नही दो कारिकाओंको[३] उद्धृत करके खण्डन किया है।[४] सो यह खण्डनका चुनाव स्वयं खण्डन-कारकी दृष्टि पर निर्भर है। अतः यह साफ है कि समन्तभद्रके मात्र उक्त दो पद्योंका धर्मकीर्तिके खण्डन न करने और उसके टीकाकार अर्चटके करनेसे समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती नहीं कहे जा सकते।

इस तरह हम देखते हैं कि समन्तभद्रको दिग्नाग और धर्मकीर्तिका उत्तरकालीन सिद्ध करनेके लिये जो कारण प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें कोई भी कारण समन्तभद्रको उक्त दोनों विद्वानोंका उत्तरवर्ती सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है। प्रत्युत इस प्रकारसे सिद्धिका प्रयत्न बहुविध आपत्तियोंसे युक्त है।

---

१ देखो, श्लोकवार्तिक १-३३ का 'तत्त्वार्थाधिगम भेद'-प्रकरण।
२ देखो, अष्टस० पृ० २८४, न्यायकुमुद पृ० ७३१
३ देखो, आप्तमी० १०३, १०४
४ देखो, भामती पृ० ४८२

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

# स्वप्न और उसका फल

( ले०—श्रीयुत् साहित्यरत्न, न्याय-ज्योतिषतीर्थ पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, आरा )

विश्व का प्रत्येक अणु रहस्यमय है। अनादिकाल से आजतक इस रहस्य का उद्घाटन करने के लिये दार्शनिक जगत् अनवरत उद्योग करता आ रहा है, तो भी रहस्य की तह में पहुंचनेवाले इने-गिने केवलज्ञानी ही हो सके हैं। यथार्थ में ज्ञानोदधि इस तरह गम्भीर है कि इसकी थाह विरले ही लगा पाये हैं, फिर भी अपने-अपने ढंग से प्रत्येक विचारक ने सिद्धान्त निर्णय किये हैं। प्रस्तुत स्वप्न जगत् भी उनके विवेचन क्षेत्र से पृथक् नहीं है। इसके रहस्य और महत्ता की भी प्राच्य और पाश्चात्य दार्शनिकों ने गहरी खोज की है। यही कारण है कि स्वप्न के विषय में भी दो प्रकार की प्रमुख विचार धाराएँ पाई जाती हैं, जिन्हें हम प्राच्य विचारधारा और पाश्चात्य विचारधारा कहते हैं। यह बात दूसरी है कि इनमें से भी प्रत्येक में कई उपधाराएँ फूट निकली हैं।

प्राच्य दर्शनाचार्यों और पाश्चात्य दर्शनाचार्यों की विवेचन प्रणाली के मूल में यही अन्तर है, कि पहली प्रणाली की नींव आत्मा की अमरता पर है और दूसरी की नींव भौतिकता पर। इससे स्वप्न के आन्तरिक स्वरूप में महान् अन्तर पड़ जाता है। द्वितीय प्रणाली के विचारकों की विचार सीमा बुद्धि तत्त्व तक ही सीमित है, आजतक वे इसके परे पहुँचने में असमर्थ ही रहे हैं, और अनुमान भी यही किया जाता है कि वैज्ञानिक शक्ति आत्मतत्त्व तक पहुंचने में असमर्थ ही रहेगी। इसी भित्ति पर स्थित उनका स्वप्न सम्बन्धी विचार भी अधूरा ही रह गया है, यथार्थतः स्वप्न का सम्बन्ध आत्मा से ही है, जैसा कि प्राच्य आचार्यों ने सुबोध एवं व्यावहारिक ढंग से प्रमाणित कर संसार के सामने उपस्थित किया है। प्राच्य विवेचनानुमोदित आत्मा की अमरता के सिद्धान्त से यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि हमारे वर्तमान जीवन का सांस्कारिक सम्बन्ध पूर्व भवों से भी है, इसलिये यह स्वयं सिद्ध है कि स्वप्न पर भी पूर्वभवों के संस्कार शासन करते हैं।

पाश्चात्य जगत् में स्वप्न के ऊपर काफी खोज की गई है, अब तक अंग्रेज़ी में अनुमानतः १००-१५० पुस्तकें इस सम्बन्ध में लिखी जा चुकी हैं। इस छोटे-से लेख में प्रधान-प्रधान सिद्धान्तों के दिग्दर्शन कराने की चेष्टा की जायगी। वैज्ञानिकों ने अधिकांश रूप में स्वप्न के कारणों की खोज की है, उसके फलाफल की नहीं। अरस्तू (Aristotle) कारणों का अन्वेषण करते हुए लिखते हैं कि जागृत अवस्था

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

में जिन प्रवृत्तियों का ओर व्यक्ति का ध्यान नहीं जाता हैं, वे ही प्रवृत्तियाँ अर्द्धनिद्रित अवस्था में उत्तेजित होकर मानसिक जगत् में जागरूक हो जाती हैं। अतः स्वप्न में हमें हमारी छुपी हुई प्रवृत्तियों का ही दर्शन होता है। एक[१] दूसरे पश्चिमीय दार्शनिक ने मनोवैज्ञानिक कारणों की खोज करते हुए बतलाया है कि स्वप्न में मानसिक जगत् के साथ बाह्य जगत् का सम्बन्ध रहता है, इसलिये हमें भविष्य में घटनेवाली घटनाओं की सूचना स्वप्न की प्रवृत्तियों से मिलती है। डाक्टर सी० जे० ह्विटवे[२] (Dr. C. J. Whitby) ने मनोवैज्ञानिक ढंग से स्वप्न के कारणों की खोज करते हुए लिखा है कि गर्मी की कमी के कारण हृदय की जो क्रियाएँ जागृत अवस्था में सुषुप्त रहती हैं, वे ही स्वप्नावस्था में उत्तेजित होकर सामने आ जाती हैं। जागृत अवस्था में कार्य संलग्नता के कारण जिन विचारों की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता है, निद्रित अवस्था में वे ही विचार स्वप्न रूप से सामने आते हैं। पृथग् गोरियन सिद्धान्त में माना गया है कि शरीर आत्मा की कब्र है। निद्रित अवस्था में आत्मा शरीर से स्वतन्त्र होकर अपने असल जीवन की ओर प्रवृत्त होती है और अनन्त जीवन की घटनाओं को ला उपस्थित करती हैं। इसीलिये हमें स्वप्न में अपरिचित वस्तुओं के भी दर्शन होते हैं। शुकरात कहते हैं कि—जागृत अवस्था में आत्मा बद्ध है, किन्तु स्वप्नावस्था में आत्मा स्वतन्त्र रहती है, इसलिये स्वप्न में स्वतन्त्रता की बातें सोचती रहती है। इसी कारण हमें नाना प्रकार के विचित्र स्वप्न आते हैं। जो आत्माएँ कलुषित हैं उनके स्वप्न गन्दे और साधारण होते हैं, पर पवित्र आत्माओं के स्वप्न अधिक प्रभावोत्पादक एवं अन्तर्जगत् और बाह्यजगत् से सम्बन्धित होते हैं। इनके द्वारा हमें भावी जीवन की सूचनाएँ मिलती हैं। नेरंगा[३] (Narrangga) मानते हैं कि जैसे हम अवकाश मिलने पर आमोद-प्रमोद करते हैं उसी प्रकार स्वप्नावस्था में आत्मा भी स्वतन्त्र होकर आमोद-प्रमोद करती है और वह मृत आत्माओं से सम्बन्ध स्थापित करके उनसे बातचीत करती है, इसीलिये हमें स्वप्न में अपरिचित चीजें भी दिखाई पड़ती हैं। पवित्र आत्माओं के स्वप्न उनके भूत और भावी जीवन के प्रतीक हैं। बिबलोनियन (Bablylonian) कहते हैं स्वप्न में देव और देवियाँ आती हैं तथा स्वप्न में हमें उन्हीं के द्वारा भावी जीवन की सूचनाएँ मिलती हैं, इसलिये कभी-कभी स्वप्न की बातें सच होती हैं। (Giljames) गिलजेम्स नामक महाकाव्य में लिखा है कि वीरों को रात में स्वप्न द्वारा उनके भविष्य की सूचना दी जाती

---

विशेष जानने के लिये देखो—

१ Dreams by Henri Bergson,

२ The Dream problem, Volume, second Part I P. 309.

३ The Dream Problem by Ram Narayan L. M, S. P. 105.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

थी। स्वप्न का सम्बन्ध देवी-देवताओं से है, मनुष्यों से नहीं। देवी-देवता ही स्वभावतः व्यक्ति से प्रसन्न होकर उसके शुभाशुभ की सूचना देते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने स्वप्न के कारणों का अन्वेषण दो प्रकार से किया है। कुछ ने स्वप्न का कारण शारीरिक विकार और कुछ ने मासिक विकार माना है। शारीरिक क्रियाओं को प्रधानता देने वाले विद्वान् मानते हैं कि मस्तिष्क के मध्यस्थित कोष के आभ्यन्तरिक परिवर्तन के कारण मानसिक चिन्ता की उत्पत्ति होती है। विभिन्न कोष जागृतावस्था में संयुक्त रहते हैं, किन्तु निद्रितावस्था में संयोग टूट जाता है, जिससे चिन्ताधारा की शृंखला नष्ट हो जाती है और स्वप्न की सृष्टि होती है। मानसिक विकार को कारण माननेवाले ठीक इससे विपरीत हैं, उनका मत है कि निद्रितावस्था में कोषों का संयोग भंग नहीं होता, बल्कि और भी घनिष्ठ हो जाता है, जिससे स्वाभाविक चिन्ता की विभिन्न धाराएँ मिल जाती हैं, इन्हीं के कारण स्वप्न जगत की सृष्टि होती है। किन्हीं-किन्हीं विद्वानों ने बतलाया है कि निद्रितावस्था में हमारे शरीर में नाना प्रकार के विषाक्त पदार्थ एकत्रित हो जाते हैं, जिनसे कोषों की क्रिया में बाधा पहुँचती है, इसलिये स्वप्न देखे जाते हैं। शारीरिक विज्ञान के विश्लेषण से पता लगता है कि निद्रितावस्था में मानसिक वृत्तियाँ सर्वथा निस्तेज नहीं हो जाती हैं। हाँ, जागृतावस्था में जो शृंखला मानसिक वृत्तियों में देखी जाती है वह अवश्य नष्ट हो जाती है। नाना प्रकार की अद्भुत चिन्ताएँ और दृश्य मन में उत्पन्न होते हैं। जागृतावस्था में दर्शन, श्रावण स्पार्शन एवं चाक्षुष आदि प्रत्यक्षानुभूतियों के प्रतिरूप वर्तमान रहते हैं, किन्तु सुषुप्तावस्था में सिर्फ दार्शन प्रत्यक्ष के प्रतिरूप ही वर्तमान रहते हैं।

चिन्ताधारा दिन और रात दोनों में सामान रूप से चलती है, लेकिन जागृतावस्था की चिन्ताधारा पर हमारा नियन्त्रण रहता है, पर सुषुप्तावस्था की चिन्ताधारा पर हमारा नियंत्रण नहीं रहता है, इसीलिये स्वप्न भी नाना अलंकारमय प्रतिरूपों में दिखलाई पड़ते हैं। स्वप्न में दार्शन प्रत्यक्षानुभूति के अतिरिक्त शेषानुभूतियों का अभाव होने पर भी सुख, दुःख, क्रोध, आनन्द, भय, ईर्षा आदि सब प्रकार के मनोभाव पाये जाते हैं। इन भावों के पाये जाने का प्रधान कारण अज्ञात इच्छा ही है। पाश्चात्य विद्वानों ने केवल विज्ञान के द्वारा ही स्वप्न के कारणों की खोज नहीं की, क्योंकि विज्ञान आदि कारण का अनुसन्धान नहीं करता है, आदि कारण का अनुसन्धान करना दर्शन शास्त्र का काम है। पाश्चात्य दर्शन के अनुसार स्वप्न निद्रावस्था की चिन्तामात्र है। हमारी जो इच्छाएँ जागृत जगत् में पूरी नहीं होतीं या जिनके पूरे होने में बाधाएँ रहती हैं, वे ही इच्छाएँ स्वप्न में काल्पनिक भाव से परितृप्त होती हैं। किसी चिन्ता या इच्छा के पूर्ण न होने से मन में जिस अशान्ति का उदय होता है, स्वप्न में कल्पना द्वारा उसकी शान्ति हो जाती है। मन की अशान्ति दूर करने के कारण स्वप्न निद्रा का सहायक है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

उपर्युक्त पंक्तियों में बताया गया है कि रुद्धइच्छा ही स्वप्न में काल्पनिक रूप से परितृप्त होती है। अब यह बतलाना है कि रुद्ध-इच्छा क्या है? और इसकी उत्पत्ति कैसे होती हैं? दैनिक कार्यों की आलोचना करने से स्पष्ट है कि हमारे प्रायः सभी कार्य इच्छाकृत होते हैं। किन्हीं-किन्हीं कार्यों में हमारी इच्छा स्पष्ट रहती है और किन्हीं-किन्हीं में अस्पष्ट एवं रुद्ध-इच्छा रहती है। जैसे गणित करने की आवश्यकता हुई और गणित करने का इच्छा होते ही एक स्थान पर गणित करने के लिये जा बैठे। यहाँ गुणा, भाग, जोड़, घटाव आदि में बहुत-सी क्रियाएँ ऐसी रहेंगी जिनमें इच्छा के अस्तित्व का पता नहीं लगेगा, पर वहाँ हम इच्छाओं के अस्तित्व का अभाव नहीं कह सकते हैं। ज्ञात और अज्ञात इच्छाओं का पता लगाने के लिये मन का विश्लेषण करना अत्यावश्यक है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इच्छाओं को प्रधान रूप से छः भागों में बाँटा है—(१) स्पष्ट इच्छा—जिन इच्छाओं का अस्तित्वरूप सरलता से जाना जा सकता है। (२) अस्पष्ट-इच्छा—जो इच्छाएँ मन में स्पष्टरूप से उदित नहीं हुई हैं, किन्तु जिनके अस्तित्व में सन्देह नहीं है और जो ज्ञान के प्रान्त में अवस्थित हैं। (३) अपरिस्फुट—जो उदित नहीं हुई हैं, किन्तु जिनका अस्तित्व सहज में ही जाना जा सकता हैं। (४) अनुमान-सापेक्ष—जिन इच्छाओं के अस्तित्व का मन के विश्लेषण करने पर भी पता न लगे; कार्य या पहली इच्छा से जिसका अनुमान किया जा सके। (५) इच्छाभास या अविश्वासिक-इच्छा—जिन इच्छाओं का अस्तित्व अनुमान सापेक्ष हो, विश्लेषण से जिनकी प्रकृति का ज्ञान होने पर भी, मन में उनका होना इतना असंभव जँचता हो जिससे विश्वास भी न किया जा सके। (६) अज्ञात—जो इच्छा इतनी सूक्ष्म हो कि ज्ञान में भी न लाई जा सके।

किसी-किसी पाश्चात्य दार्शनिक ने इच्छा के चार ही प्रधान भेद बतलाये हैं, इन चारों को अज्ञात-इच्छा के अन्तर्गत रखा जाय तो अनुचित न होगा। (१) संज्ञात—जो इच्छा ज्ञान के अधिकार के भीतर हो। (२) असंज्ञात—चेष्टा द्वारा जहाँ ज्ञान का अधिकार विस्तृत किया जाय। (३) अन्तर्ज्ञात—ज्ञान के अधिकार के बहिर्भूत होते हुए भी जिस इच्छा का मन में किसी न किसी दिन उठना संभव हो। (४) अज्ञात या निर्ज्ञात—जो इच्छा कभी न उठ सके, जिसका अस्तित्व केवल अनुमान गम्य हो। इच्छा के इस दार्शनिक विश्लेषण से पता लगता है कि स्वप्न में नाना प्रकार की अज्ञात-इच्छाएँ अपना जाल बिछाती रहती हैं। इसलिये स्वप्नगत अवदमित-इच्छाएँ सीधे-सादे रूप में चरितार्थ न होकर ज्ञान के पथ में बाधक होती हैं। तथा अज्ञात रुद्ध इच्छा ही अनेक प्रकार से मनके प्रहरी को धोखा देकर विकृत अवस्था में प्रकाशित होती है और अवदमित इच्छाओं के आत्मप्रकाश में उनकी रुद्ध इच्छाएँ बाधा पहुंचाती हैं—जैसे मरने की इच्छा को जीने की इच्छा पनपने नहीं देती। जिस समय भी मरने की इच्छा हमारे मन में प्रकट होने की चेष्टा करती है,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

उसी समय जीने की इच्छा प्रकट होकर बाधा पहुँचाती है। फलस्वरूप मरने की इच्छा सीधे-सादे रूप में मन में न उठकर तरह-तरह से प्रकाशित होती है। संकट-पूर्ण परिस्थिति में उतरकर बहादुरी दिखाने की इच्छा केवल मृत्यु की इच्छा का ही रूपान्तर है। इस इच्छा के इस परिवर्ति रूप को देखकर नहीं समझ सकते हैं कि वह यथार्थ में मरने की इच्छा है। यदि इस परिस्थिति में जीने की इच्छा को प्रहरी मान लेते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रहरी के कारण ही मृत्यु इच्छा अपने असली रूप में प्रकाशित नहीं हो सकी। मृत्यु इच्छा विपत्ति के कार्यों में वाहवाही लेने की इच्छा से छद्मवेश धारण कर लेती है और इस प्रकार इस प्रहरी को सहज में धत्ता बता सकती है। अतः उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि स्वप्न में अज्ञात-इच्छा विरुद्ध-इच्छा को धोखा देकर नाना रूपकों और उपरूपकों में हमारे सामने आती है।

स्वप्न के अर्थ का विकृत होने का प्रधान कारण अवदमित इच्छा—जो इच्छा अज्ञात होकर स्वप्न में प्रकाशित होने की चेष्टा करती है, प्रहरी को—मन के जो-जो भाव रुद्ध-इच्छा के प्रकाशित होने में बाधा पहुँचाते हैं उनके समष्टि रूप प्रहरी को धोखा देने के लिये छद्मवेश में प्रकाशित होकर शान्त नहीं होती है, बल्कि पाखण्डरूप धारण कर के अपने को प्रहरी की नज़रों से बचाने की चेष्टा करती है। इस प्रकार नाना इच्छाओं का एक जाल बिछ जाता हैं, इससे स्वप्न का यथार्थ अर्थ विकृत हो जाता है। दार्शन परिणिति (Visuabmagery) अभिक्रान्ति (Displacement), संक्षेपन (Condensation) और नाटकीय परिणिति (Dramatization) ये चार अर्थ विकृति के आकार हैं। मन का प्रहरी जितना सजग होगा, स्वप्न भी उतने ही विकृत आकार में प्रकाशित होगा। प्रहरी के कार्य में ढिलाई होने पर स्वप्न की मूल इच्छा अविकृत अवस्था में प्रकाशित होती है। मन का प्रहरी जागृतावस्था में सजग रहता है और निद्रितावस्था में शिथिल। इसी कारण निद्रितावस्था में मन की अपूर्ण इच्छाएँ स्वप्न द्वारा काल्पनिक तृप्ति का साधन बनती हैं।

इसी प्रकार विश्वविश्रुत मनोवैज्ञानिक[1] फ्रायड ने स्वप्न के कारणों की खोज करते हुए बतलाया है कि बहुधा स्वप्न अत्यन्त विकृत रूप में हमारे सामने आते हैं और अर्थहीन जान पड़ते हैं, पर मनोविज्ञान के पण्डित उस अर्थहीनता में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अर्थ खोज निकालते हैं। प्रत्येक स्वप्न हमारी किसी आशा या आशंका का रूपक होता है। हमारी गुप्त-भावना स्वप्न में यथार्थ रूप में अपने को प्रकट न करके गुप्तवेश में नाना रूपकों के जाल बिछाकर

१ (a) देखें—The interpretation of dreams. (b) Delusion & dream.
Studies in Dreams by Mary Arnaldforster P. 8 to 30.
Dreams Scientific & Practical Interpretations by G. H, Miller P, 8 to 24.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

व्यक्त होती है। मनुष्य अपने स्वभावगत असमर्थता की क्षति पूर्त्ति जिन-जिन रूपों में करता है, उसके स्वप्नों की भी गणना उन्हीं में की जा सकती है। क्योंकि स्वप्नों के द्वारा वह अपनी उन इच्छाओं की पूर्त्ति करता है जिन्हें वह वास्तविक जगत् में पूरा नहीं कर पाता। स्वप्न वास्तव में मनुष्य की अन्तर्भावनाओं के दर्पण होते हैं। किसी मनुष्य के भीतर की सच्ची बात जानने की आवश्यकता हो तो उसके स्वप्नों को जान लेना ही यथेष्ट होगा। एक भारतीय विद्वान्[1] ने एक जगह लिखा है कि मनुष्य के भीतर कमसे कम दो व्यक्तित्व सदा, सब समय वर्त्तमान रहते हैं। उसका एक व्यक्तित्व उसे अपनी स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्त्ति के लिये प्रेरित करता है और दूसरा व्यक्तित्व समाज के कड़े नियमों के पालने के लिये उत्कण्ठित रहता है। पहला व्यक्तित्व उसकी अन्तर्भूमि में सोई हुई अवस्था में दबा पड़ा रहता है, पर दूसरा व्यक्तित्व (समाज के शासनचक्र को मानकर चलने वाला व्यक्तित्व) सब जगह जागता रहता है, यहाँ तक कि हमारी निद्रित अवस्था से वह पुलिस के चौकीदार की तरह चौकन्ना रहता है। जब स्वप्न देखते हैं तब हमारे दोनों व्यक्तित्व सचेष्ट रहते हैं। दोनों व्यक्तित्व एक दूसरे पर कड़ी निगाह रखते हैं। पुलिस का काम करने वाला व्यक्तित्व स्वाभाविक इच्छाओं की ओर झुकने वाले व्यक्तित्व को धर पकड़ने के लिये तैयार रहता है, पर दूसरा व्यक्तित्व उस पुलिस प्रहरी को धोखा देकर अपनी सहज इच्छाओं को वेश बदल कर चरितार्थ कर लेता है। यही कारण है कि हमारे स्वप्न हमें अर्थहीन और विचित्र जान पड़ते हैं पर वे वास्तव में अर्थ हीन नहीं होते, बल्कि हमारे भीतर वर्तमान पुलिस प्रहरी को धोखा देने के लिये निराले रूपक-मय रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार हमारे मूल व्यक्तित्व की आकाँक्षाएँ पूरी होती हैं। जेम्स[2] एलेन लिखते हैं कि मानव के अन्तस्तल में जो सद् या असद् इच्छाएँ वर्तमान रहती हैं वे स्वप्न में आती हैं। कल्पनाओं के संसार का दूसरा नाम स्वप्न उन्होंने रक्खा है। लिलीने स्वप्न का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए लिखा हैं कि जितने भी ऊँचे स्वप्न देखने वाले हुए हैं या जिनके ऊँचे मन्तव्य रहे हैं वे संसार के मुक्तिदाता हुए है। स्वप्न मनुष्य की अन्तर्भावनाओं के सच्चे प्रतीक हैं। जी० एच० मिलर सा० ने अपनी Dreams Scientific पुस्तक में लिखा है कि "A dream is an event transpiring in that world belonging to the mind when the objective senses have withdrawn into rest or oblivion.

Than the spiritual man is living alone in the future or ahead of objective life and consequently lives man's future first developing conditions in a way that enables waking man to shape his actions by warnings, so as to make life a perfect existence". अर्थात् सुषुप्तावस्था में मस्तिष्क का

१ दैनिक जीवन और मनोविज्ञान।

२ Asyns Thinkett P. 18. A, H. Sayce P, 33.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

आन्तरिक संसार से सम्बन्ध रहने के कारण व्यक्ति में आध्यात्मिकता अधिक रहती है। इस लिये व्यक्ति का सम्बन्ध वास्तविक अर्थात् बाह्य संसार से न रहकर आन्तरिक संसार से रहता है, अतः स्वप्न के द्वारा भावी जीवन की घटनाओं की सूचना मिलती है। स्वप्न से ही मानव जीवन में पूर्णता आती है। अतएव स्वप्नों को भविष्य की सूचना देने वाले मानना चाहिये।

प्राच्यविचार धारा को सुविधा के ख्याल से विचार करने के लिये प्रधानतया तीन भागों में बाँट सकते हैं—(१) दार्शनिक विचार धारा, (२) आयुर्वेदिक विचार धारा और (३) ज्यौतिषिक विचार धारा। दार्शनिक विचार धारा की तीन उपधाराएँ हैं—(१) जैन, (२) बौद्ध और (३) वैदिक।

जैन दर्शन—जैन मान्यता में स्वप्न संचित कर्मों के अनुसार घटित होने वाले शुभाशुभ फल के द्योतक हैं। स्वप्नशास्त्रों के अध्ययन से स्पष्ट अवगत हो जाता है कि कर्मबद्ध प्राणी-मात्र की क्रियाएँ सांसारिक जीवों को उनके भूत और भावी जीवन की सूचना देती हैं। स्वप्न का अन्तरंग कारण ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय के क्षयोपशम के साथ मोहनीय का उदय है। जिस व्यक्ति के जितना अधिक इन कर्मों का क्षयोपशम होगा, उस व्यक्ति के स्वप्नों का फल भी उतना ही अधिक सत्य निकलेगा। तीव्र कर्मों के उदय वाले व्यक्तियों के स्वप्न निरर्थक एवं सारहीन होते हैं, इसका मुख्य कारण यही है कि सुषुप्तावस्था में भी आत्मा तो जागृत ही रहती है केवल इन्द्रियों और मन की शक्ति विश्राम करने के लिये सुषुप्त-सी हो जाती है। जिसके उपर्युक्त कर्मों का क्षयोपशम है उसके क्षयोपशमजन्य इन्द्रिय और मन सम्बन्धी चेतनता या ज्ञानावस्था अधिक रहती है। इसलिये ज्ञान की मात्रा की उज्ज्वलता से निद्रित अवस्था में जो कुछ देखते हैं, उसका सम्बन्ध हमारे भूत, वर्तमान और भावी जीवन से है। इसी कारण स्वप्नशास्त्रियों ने स्वप्न को भूत, वर्तमान और भविष्य जीवन का द्योतक बतलाया है। पौराणिक अनेक आख्यानों से भी यही सिद्ध होता है कि स्वप्न मानव को उसके भावी जीवन में घटने वाली घटनाओं की सूचना देते हैं।

बौद्धदर्शन—बौद्ध मान्यता में स्वभावतः पदार्थों के क्षणिक होने के कारण सुषुप्तावस्था में भी क्षण-क्षण ध्वंसी आत्मा की ज्ञानसन्तान चलती रहती है, पर इस ज्ञानसन्तान का जीवात्मा के ऊपर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता है और न पूर्व संचित संस्कार ही वस्तुभूत हैं। इसलिये स्वप्न का फल जीवात्मा से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता है। केवल शारीरिक विकार के कारण स्वप्न आते हैं, आत्मा स्वप्न से पृथक् रहती है। बौद्ध ग्रन्थों के पौराणिक आख्यानों में कुछ स्वप्न सम्बन्धी कथायें अवश्य मिलती हैं, पर दार्शनिकों ने स्वप्न के सम्बन्ध में विचार नहीं किया है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

वैदिक दर्शन—इस मान्यता में प्रधानतः अद्वैत, द्वैत और विशिष्टाद्वैत ये तीन दार्शनिक सिद्धान्त हैं, अवान्तर विचार धाराएँ इन्हीं के अन्तर्गत हैं।

अद्वैत दर्शन—इस मान्यता में पूर्व और वर्तमान संचित संस्कारों के कारण जागृत अवस्था में जिन इच्छाओं की पूर्त्ति नहीं होती हैं, स्वप्नावस्था में उन्हीं इच्छाओं की पूर्त्ति बताई गई है। स्वप्न आने का प्रधान कारण अविद्या है, इसलिये स्वप्न का सम्बन्ध अविद्या सम्बद्ध जीवात्मा से है, परमब्रह्म से नहीं। स्वप्न के फल का प्रभाव जीवात्मा के ऊपर पड़ता है, पर यह फल भी मायारूप भ्रान्त है।

द्वैत दर्शन—इस दर्शन में पुरुष प्रकृति के सम्बन्ध के कारण विकृतावस्था को धारण कर लेता है। इस विकृत पुरुष में ही जन्म-जन्मान्तर के संस्कार संचित रहते हैं। पूर्व तथा वर्तमान जन्म के संस्कारों के कारण विकृत पुरुष स्वप्न देखता है। अतः स्वप्न का सम्बन्ध निर्लेपी पुरुष से न होकर प्रकृति मिश्रित पुरुष के भूत, वर्तमान और भावी जीवन से है।

विशिष्टाद्वैत—इस मान्यता में बताया गया है कि संचित, प्रारब्ध, काम्य और निषिद्ध इन चार प्रकार के कर्मों में से संचित और प्रारब्ध कर्मों के अनुसार प्राणियों को स्वप्न आते हैं। स्वप्न का सम्बन्ध ब्रह्म के अंशभूत जीव से है। इस दर्शन की मान्यता के अनुसार प्राणी संचित कर्मों का फल भी स्वप्न में भोग सकता है। पौराणिक आख्यानों में महाराज सत्य हरिश्चन्द्र का उदाहरण भी इसी प्रकार का है, जिन्होंने स्वप्न में अनेक भावों के संचित "डौम के यहाँ बिक्रय होने के" फल को प्राप्त कर लिया था।

आयुर्वेदिक विचार धारा[1]—इस मान्यता के अनुसार मन के बहने वाली नाड़ियों के छिद्र जिस समय अति बली तीनों दोषों से ( बात, पित्त और कफ ) परिपूर्ण हो जाते हैं उस समय प्राणियों को शुभ और अशुभ स्वप्न आते हैं। जिस समय प्राणी न अत्यन्त सोता है और न जागता हो अर्थात अर्द्ध निद्रित अवस्था में इन्द्रियों के अधिपति मन के द्वारा सफल और निष्फल अनेक प्रकार के स्वप्न देखता है। इस मान्यता में बताया गया है कि व्यक्तियों को नाना प्रकार के रोगों की स्वप्न द्वारा चेतावनी दी जाती है। चरक और सुश्रुत के आधार पर से कुछ का उल्लेख किया जाता है।

जो मनुष्य स्वप्न में कुत्ता, ऊँट और गधे पर चढ़ कर दक्षिण दिशा को जाता है, उसको राजयक्ष्मा; जो स्वप्न में लाख और लाल वस्त्र के समान आकाश को देखता है, उसे रक्त-पित्त; जिसे स्वप्न में शूल रोग, अफरा, आँतों का रोग, अत्यन्त दुर्बलता का अनुभव हो

१ मनोवहानां पूर्णत्वाद्दोषैरतिबलैस्त्रिभिः
स्रोतसां दारुणान्स्वप्नान्काले पश्यत्यदारुणान्
विशेष जानने के लिये देखो—वाग्भट्ट शारीर स्थान ६वाँ अध्याय

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

और नखों का रंग विकृत मालूम हो, उसे गुल्म; जो स्वप्न में शरीर में घाव देखे, नग्न हो घृत लगावे, ज्वाला रहित अग्नि में हवन करे और हृदय में कमल प्रकट हुआ देखे, उसे कुष्ठरोग; जो स्वप्न में चाण्डाल, चर्मकार आदि नीच वर्ण वाले व्यक्तियों के साथ घृत, तैल आदि स्निग्ध पदार्थों का पान करे, उसे मधु मेह; जो स्वप्न में अनेक व्यक्तियों सहित नाचता हुआ जल में निमग्न होता देखे, उसे उन्माद; स्वप्न में कुत्ते से प्रेम करते हुए देखने से ज्वर; राक्षसों के साथ प्रीति करते हुए देखने से अपस्मार; बन्दरों के साथ प्रीति करते हुए देखने से गुप्त रोग; स्वप्न में चने की तिल मिली पूड़ी खाने से मस्तक और छर्दि रोग; स्वप्न में मार्ग चलता हुआ देखने से श्वास; स्वप्न में हल्दी मिले पदार्थ का सेवन करता हुआ देखने से पाण्डु रोग और स्वप्न में लाल तथा काले वस्त्रवाली स्त्री के साथ वार्त्तालाप करने से भयानक रोग होते हैं। वाग्भट्ट ने बताया है कि जिस मनुष्य की वात प्रकृति होती है, वह स्वप्न में आकाश में भ्रमण करना, उड़ना तथा काले रंग की वस्तुओं को और प्रचण्ड पवन-आँधी आदि देखता है। पित्ताधिक प्रकृति वाला सोने या रत्नों की मालाओं, सूर्य, अग्नि और बिजली आदि प्रकाशमान पदार्थों को देखता है। कफाधिक प्रकृतिवाला चन्द्रमा, नक्षत्र, श्वेत पुष्प और नदी, तालाब आदि को देखता है। अपनी-अपनी प्रकृति के अनुकूल देखे गये स्वप्न निरर्थक होते हैं अर्थात् वाताधिक प्रकृतिवाला आकाश में उड़ना देखे या वात प्रकृति सम्बन्धी अन्य स्वप्नों को देखे तो ऐसे स्वप्नों का फल नहीं होता है।

ज्यौतिषिक विचारधारा—उपलब्ध जैन ज्योतिष में निमित्त शास्त्र अपना विशेष स्थान रखता है। जहाँ जैनाचार्यों ने जीवन में घटनेवाली अनेक घटनाओं के इष्टानिष्ट कारणों का विश्लेषण किया है, वहाँ स्वप्न के द्वारा भावी जीवन की उन्नति और अवनति का विश्लेषण भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ढंग से किया है। यों तो प्राचीन वैदिक धर्मावलम्बी ज्योतिषशास्त्रियों ने भी इस विषय पर पर्याप्त लिखा हैं, पर जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित स्वप्न शास्त्र में कई विशेषताएँ हैं। वैदिक ज्योतिषशास्त्रियों ने ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता माना है, इसलिये स्वप्न को भी ईश्वरकी प्रेरित इच्छाओं का फल बताया है। वाराहमिहिर, बृहस्पति और पौलस्त्य आदि विख्यात गणकों ने ईश्वर की प्रेरणा को ही स्वप्न में प्रधान कारण बताया है। फलाफल का विवेचन जैनाजैन ज्योतिषशास्त्र में दश-पाँच स्थलों को छोड़ कर प्रायः समान ही है।

जैन स्वप्न शास्त्र[1] में प्रधानतया निम्न सात प्रकार के स्वप्न बताये गये हैं। (१) दृष्ट जो कुछ जागृत अवस्था में देखा हो उसी को स्वप्नावस्था में देखा जाय; (२) श्रुत—सोने के

---

विशेष जानने के लिये देखो—

१ भद्रबाहु निमित्तशास्त्र का स्वप्नाध्याय और केवलज्ञानहोरा का स्वप्न प्रकरण

पहले कभी किसी से सुना हो उसी को स्वप्नावस्था में देखा जाय; (३) अनुभूत—जिसका जागृतावस्था में किसी भाँति अनुभव किया हो, उसी को स्वप्न में देखे; (४) प्रार्थित—जिनकी जागृतावस्था में प्रार्थना—इच्छा की हो उसी को स्वप्न में देखे; (५) कल्पित—जिसकी जागृतावस्था में कभी भी कल्पना की गई हो उसी को स्वप्न में देखे; (६) भाविक—जो कभी न तो देखा गया हो और न सुना हो, पर जो भविष्य में होने वाला हो उसे स्वप्न में देखा जाय और (७) दोषज—वात, पित्त और कफ इनके विकृत हो जाने से देखा जाय। इन सात प्रकार के स्वप्नों में से पहले के पाँच प्रकार के स्वप्न प्रायः निष्फल होते हैं, वस्तुतः भाविक स्वप्न का फल ही सत्य होता है।

रात्रि के प्रहर के अनुसार स्वप्न का फल—रात्रि के पहले प्रहर में देखे गये स्वप्न एक वर्ष में; दूसरे प्रहर में देखे गये स्वप्न आठ महीने में (चन्द्रसेन मुनि के मत से ७ महीने में); तीसरे प्रहर में देखे गये स्वप्न तीन महीने में; चौथे प्रहर में देखे गये स्वप्न एक महीने में (वराहमिहिर के मत से १६ दिन में); ब्राह्म मुहूर्त्त (उषाकाल) में देखे गये स्वप्न दस दिन में और प्रातःकाल सूर्योदय से कुछ पूर्व देखे गये स्वप्न अति शीघ्र शुभाशुभ फल देते हैं।

अब जैनाजैन ज्योतिष-शास्त्र के आधार पर कुछ स्वप्नों का फल नीचे उद्धृत किया जाता है—

**अगुरु**—जैनाचार्य भद्रबाहु के मत से—काले रंग का अगुरु देखने से निःसन्देह अर्थलाभ होता है। जैनाचार्य चन्द्रसेन मुनि के मत से सुख मिलता है। वराहमिहिर के मत से धन लाभ के साथ स्त्री लाभ भी होता है। बृहस्पति के मत से—इष्ट मित्रों के दर्शन, और आचार्य मयूख एवं दैवज्ञवर्य गणपति के मत से अर्थ लाभ के लिये विदेश गमन होता है।

**अग्नि**—जैनाचार्य चन्द्रसेन मुनि के मत से धूम युक्त अग्नि देखने से उत्तमकान्ति, वराहमिहिर और मार्कण्डेय के मत से प्रज्वलित अग्नि देखने से कार्य सिद्धि; दैवज्ञ गणपति के मत से अग्नि भक्षण करना देखने से भूमि लाभ के साथ स्त्री रत्न की प्राप्ति और बृहस्पति के मत से जाज्वल्यमान अग्नि देखने से कल्याण होता है।

**अग्निदग्ध**—जो मनुष्य आसन, शय्या, यान और वाहन पर स्वयं स्थित होकर अपने शरीर को अग्निदग्ध होते देखे (मतान्तर से अन्य को जलता हुआ देखे और तत्क्षण जाग उठे तो उसे धन-धान्य की प्राप्ति होती है। अग्नि में जलकर मृत्यु देखने से रोगी पुरुष की मृत्यु और स्वस्थ पुरुष बीमार होता है। गृह अथवा दूसरी वस्तु को जलते हुए देखना शुभ है। वराहमिहिर के मत से अग्नि लाभ भी शुभ है।

**अन्न**—अन्न देखने से अर्थ लाभ और सन्तान की प्राप्ति होती है। आचार्य चन्द्रसेन के मत से श्वेत अन्न देखने से इष्ट मित्रों की प्राप्ति; लाल अन्न देखने से रोग; पीला अनाज देखने से हर्ष और कृष्ण अनाज देखने से मृत्यु होती है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

**अलङ्कार**—अलंकार देखना शुभ है, पर पहनना कष्ट प्रद होता है।

**अस्त्र**—अस्त्र देखना शुभ फल प्रद; अस्त्र द्वारा शरीर में साधारण चोट लगना तथा अस्त्र लेकर दूसरे का सामना करना विजय प्रद होता है।

**अनुलेपन**—श्वेत रंग की वस्तुओं का अनुलेपन शुभ फल देने वाला होता है। वराहमिहिर के मत से लाल रंग के गन्ध, चन्दन और पुष्पमाला आदि के द्वारा अपने को शोभायमान देखे तो शीघ्र मृत्यु होती है।

**अन्धकार**—अन्धकार मय स्थानों में वन, भूमि, गुफा और सुरंग आदि स्थानों में प्रवेश करते हुए देखना रोग सूचक है।

**आकाश**—भद्रबाहु स्वामी के मत से निर्मल आकाश देखना शुभ फल प्रद; लाल वर्ण की आभा वाला आकाश देखना कष्ट प्रद और नील वर्ण का आकाश देखना मनोरथ सिद्ध करने वाला होता है।

**आरोहण**—वृष, गाय, हाथी, मन्दिर, वृक्ष, प्रासाद और पर्वत के ऊपर स्वयं आरोहण करते हुए देखना या दूसरे को आरोहित (चढ़ता हुआ) देखना अर्थ लाभ सूचक है।

**कपास**—कपास देखने से स्वस्थ व्यक्ति रुग्ण होता है और रोगी की मृत्यु होती है। दूसरे को देते हुए कपास देखना शुभ फल प्रद है।

**कबन्ध**—नाचते हुए छिन्न कबन्ध देखने से आधि, व्याधि और धन नाश होता है। वराहमिहिर के मत से मृत्यु होती है।

**कलश**—कलश देखने से धन, आरोग्य और पुत्र की प्राप्ति होती है। कलशी देखने से गृह में कन्या उत्पन्न होती है।

**कलह**—कलह एवं लड़ाई-झगड़े देखने से स्वस्थ व्यक्ति रुग्ण होता है और रोगी की मृत्यु होती है।

**काक**—स्वप्न में काक, गिद्ध, उल्लू और कुकुर जिसे चारों ओर से घेरकर त्रास उत्पन्न करें तो मृत्यु और अन्य का त्रास उत्पन्न करते हुए देखे तो अन्य की मृत्यु होती है।

**कुमारी**—कुमारी कन्या को देखने से अर्थ लाभ एवं सन्तान की प्राप्ति होती है। वराहमिहिर के मत से कुमारी कन्या के साथ आलिङ्गन करना देखने से कष्ट एवं धन क्षय होता है।

**कूप**—गन्दे जल या पंक वाले कूप (कूँआ) के अन्दर गिरना या डूबना देखने से स्वस्थ व्यक्ति रोगी और रोगी की मृत्यु होती है। तालाब या नदी में प्रवेश करना देखने से रोगी को मरण तुल्य कष्ट होता है।

**क्षौर**[1]—नाई के द्वारा स्वयं अपना या दूसरे का क्षौर (हजामत) करना देखने से कष्ट के साथ-साथ धन और पुत्र का नाश होता है। गणपति दैवज्ञ के मत से माता-पिता की

१ विशेष जानने के लिये देखो—मुहूर्तगणपति का २४वाँ प्रकरण।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

मृत्यु; मार्कण्डेय के मत से भार्या मरण के साथ माता-पिता की मृत्यु और बृहस्पति के मत से पुत्र-मरण होता है।

खेल[1]—अत्यन्त आनन्द के साथ खेल खेलते देखना दुःस्वप्न है। इसका फल बृहस्पति के मत से—रोना, शोक करना एवं पश्चात्ताप करना; ब्रह्मवैवर्त पुराण के मत से—धन नाश, ज्येष्ठ पुत्र या कन्या का मरण और भार्या को कष्ट होता है, नारद के मत से सन्तान नाश और पाराशर के मत से—धन क्षय के साथ-साथ अपकीर्त्ति होती है।

गमन—दक्षिण दिशा की ओर गमन करना देखने से धन नाश के साथ कष्ट; पश्चिम दिशा की ओर गमन करना देखने से अपमान; उत्तर की ओर गमन करना देखने से स्वास्थ्य लाभ और पूर्व दिशा की ओर गमन करना देखने से धन प्राप्ति होती है।

गर्त्त—उच्च स्थान से अन्धकारमय गर्त्त में गिर जाना देखने से रोगी की मृत्यु और स्वस्थ पुरुष रुग्ण होता है। यदि स्वप्न में गर्त्त में (गड्ढे) गिर जाय और उठने का प्रयत्न करने पर भी बाहर न आसके तो उसकी १० दिन के भीतर मृत्यु होती है।

गाड़ी—गाय या बैलों के द्वारा खींचे जाने वाली गाड़ी पर बैठे हुए चलना देखने से पृथ्वी के नीचे से चिर संचित धन की प्राप्ति होती है। वराहमिहिर के मत से—पीताम्बर धारण किये स्त्री को एक ही स्थान पर कई दिन तक देखने से उस स्थान पर धन मिलता है। बृहस्पति के मत से—स्वप्न में दाहिने हाथ में साँप को काटता हुआ देखने से १००००) रुपये की प्राप्ति अतिशीघ्र होती है।

गाना—स्वयं को गाना गाता हुआ देखने से कष्ट होता है। भद्रबाहु स्वामी के मत से स्वयं या दूसरे को मधुर गाना गाते हुए देखने से मुकद्दमा में विजय, व्यापार में लाभ और यश प्राप्ति; बृहस्पति के मत से अर्थ लाभ के साथ भयानक रोग; नारद के मत से—सन्तान कष्ट और अर्थ लाभ एवं मार्कण्डेय के मत से अपार कष्ट होता है।

गाय—दुहने वाले के साथ गाय को देखने से कीर्त्ति और पुण्य लाभ होता है। गणपति दैवज्ञ के मत से—जल पीती गाय देखने से लक्ष्मी के तुल्य गुणवाली कन्या का जन्म और वराहमिहिर के मत से—स्वप्न में गाय का दर्शनमात्र ही सान्तानोत्पादक है।

गिरना—स्वप्न में लड़खड़ाते हुए गिरना देखने से दुःख, चिन्ता एवं मृत्यु होती है।

गृह—गृह में प्रवेश करना, ऊपर चढ़ना एवं किसी से प्राप्त करना देखने से भूमि लाभ और धन-धान्य की प्राप्ति एवं गृह का गिरना देखने से मृत्यु होती है।

घास—कच्चा घास, शस्य (धान) और कच्चे गेहूँ एवं चने के पौधे देखने से भार्या को गर्भ रहता है, परन्तु इनके काटने या खाने से गर्भ पात होता है।

---

१ ब्रह्मवैवर्त पुराण के गणेशखण्ड का ३३ वाँ और ३४वाँ अध्याय।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

घृत—घृत देखने से मन्दाग्नि; अन्य से लेना देखने से यश प्राप्ति; घृत पान करना देखने से प्रमेह और शरीर में लगाना देखने से मानसिक चिन्ताओं के साथ शारीरिक कष्ट होता है।

घोटक—घोड़ा देखने से अर्थ लाभ, घोड़े पर चढ़ना देखने से कुटुम्बवृद्धि और घोड़ी का प्रसव करना देखने से सन्तान लाभ होता है।

चक्षु—स्वप्न में अकस्मात् चक्षु द्वय का नष्ट होना देखने से मृत्यु और एक आँख का फूट जाना देखने से कुटुम्ब में किसी की मृत्यु होती है।

चादर[1]—स्वप्न में शरीर की चादर, चोगा या कमीज आदि को श्वेत और लाल रंग की देखने से सन्तान हानि होती है।

चिता—अपने को चिता पर आरूढ़ देखने से बीमार की मृत्यु और स्वस्थ व्यक्ति बीमार होता है।

जल—स्वप्न में निर्मल जल देखने से कल्याण, जल द्वारा अभिषेक देखने से भूमि की प्राप्ति; जल में डूबकर विलग होना देखने से मृत्यु; जल को तैरकर पार करना देखने से सुख और जल पीना देखने से कष्ट होता है।

जूता—स्वप्न में जूता देखने से विदेश यात्रा, जूता प्राप्त कर उपभोग करना देखने से ज्वर एवं जूता से मार-पीट करना देखने से ६ महीने में मृत्यु होती है।

तिल-तैल—तिल, तैल और खली की प्राप्ति होना देखने से कष्ट, पीना और भक्षण करना देखने से मृत्यु और मालिश करना देखने से मृत्यु तुल्य कष्ट होता है।

दधि—स्वप्न में दधि देखने से प्रीति, भक्षण करना देखने से यश प्राप्ति, भात के साथ भक्षण करना देखने से सन्तान लाभ और दूसरों को देना लेना देखने से अर्थ लाभ होता है।

दाँत—दाँत कमजोर हो गये हैं और गिरने के लिये तैयार हैं या गिर रहे हैं, ऐसा देखने से धन का नाश और शारीरिक कष्ट होता है। वराहमिहिर के मत से स्वप्न में नख, दाँत और केशों का गिरना देखना मृत्यु सूचक है।

दीपक—स्वप्न में दीपक जला हुआ देखने से अर्थ लाभ, अकस्मात् निर्वाण प्राप्त हुआ देखने से मृत्यु और ऊर्ध्व लौ देखने से यश प्राप्ति होती है।

देव-प्रतिमा—स्वप्न में इष्टदेव का दर्शन, पूजन और आह्वानन करना देखने से विपुल धन की प्राप्ति के साथ परम्परा से मोक्ष मिलता है। स्वप्न में प्रतिमा का कम्पित होना, गिरना हिलना, चलना, नाचना और गाते हुए देखने से आधि, व्याधि और मृत्यु होती है।

नग्न—स्वप्न में नग्न होकर मस्तिक के ऊपर लाल रंग की पुष्पमाला धारण करना देखने से मृत्यु होती है।

---

[1] विशेष जानने के लिये देखो—मत्स्यपुराण का २४२ वाँ अध्याय।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

नृत्य—स्वप्न में स्वयं का नृत्य करना देखने से रोग और दूसरे को नृत्य करता हुआ देखने से अपमान होता है। वराहमिहिर के मत से—नृत्य का किसी भी रूप में देखना अशुभ सूचक है।

पक्वान—स्वप्न में पक्वान कहीं से प्राप्त कर भक्षण करता हुआ देखे तो रोगी की मृत्यु हो और स्वस्थ व्यक्ति बीमार हो। स्वप्न में पूरी, कचौरी, मालपुआ और मिष्टान्न खाना देखने से शीघ्र मृत्यु होती है।

फल—स्वप्न में फल देखने से धन की प्राप्ति, फल खाना देखने से रोग एवं सन्तान नाश और फल का अपहरण करना देखने से चोरी एवं मृत्यु आदि अनिष्ट फलों की प्राप्ति होती है।

फूल—स्वप्न में श्वेत पुष्पों का प्राप्त होना देखने से धन लाभ, रक्तवर्ण के पुष्पों का प्राप्त होना देखने से रोग; पीतवर्ण के पुष्पों का प्राप्त होना देखने से यश एवं धन लाभ; हरितवर्ण के पुष्पों का प्राप्त होना देखने से इष्ट-मित्रों का मिलन और कृष्णवर्ण के पुष्प देखने से मृत्यु होती है।

भूकम्प[1]—भूकम्प होना देखने रोगी की मृत्यु और स्वस्थ व्यक्ति रुग्ण होता है। चन्द्रसेन मुनि के मत से—स्वप्न में भूकम्प देखने से राजा का मरण होता है। भद्रबाहु स्वामी के मत से—स्वप्न में भूकम्प होना देखने से राज्य विनाश के साथ देश में बड़ा भारी उपद्रव होता है।

मल-मूत्र—स्वप्न में मल-मूत्र का शरीर में लग जाना देखने से धन प्राप्ति; भक्षण करना देखने से सुख और स्पर्श करना देखने से सम्मान मिलता है।

मृत्यु—स्वप्न में किसी की मृत्यु देखने से शुभ होता है और जिसकी मृत्यु देखते हैं वह दीर्घजीवी होता है, परन्तु अन्य दुःखद घटनाएँ सुनने को मिलती हैं।

यव—स्वप्न में जौ देखने से घर में पूजा, होम और अन्य माङ्गलिक कार्य होते हैं।

युद्ध—स्वप्न में युद्ध में विजय देखने से शुभ; पराजय देखने से अशुभ और युद्ध सम्बन्धी वस्तुओं को देखने से चिन्ता होती है।

रुधिर—स्वप्न में शरीर में से रुधिर निकलना देखने से धन-धान्य की प्राप्ति; रुधिर से अभिषेक करता हुआ देखने से सुख; स्नान देखने से अर्थ लाभ और रुधिर पान करना देखने से विद्या लाभ एवं अर्थ लाभ होता है।

लता—स्वप्न में कण्टकवाली लता देखने से गुल्म रोग; साधारण फल-फूल सहित लता देखने से नृप दर्शन और लता के साथ क्रीड़ा करने से रोग होता है।

लोहा—स्वप्न में लोहा देखने अनिष्ट और लोहा या लोहे से निर्मित वस्तुओं के प्राप्त करने से आधि, व्याधि और मृत्यु होती है। —क्रमशः

---

१ विशेष जानने के लिये देखो—
देवीपुराण का २२वाँ अध्याय और कालिकापुराण का ८७वाँ अध्याय।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

# वर्तमान तिलोयपण्णत्ति और उसके रचनाकाल आदि का विचार।

ले०—श्रीयुत् पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री सम्पादक 'जयधवला' बनारस

## (१) सामान्य परिचय

दिगम्बर सम्प्रदाय में 'तिलोयपण्णत्ति' को ऊंचा स्थान प्राप्त है। इसका परिमाण आठ हजार[1] श्लोक है यह इसके अन्त में आई हुई एक गाथा से जाना जाता है। भाषा प्राकृत है। ग्रन्थ का बहुभाग गाथाबद्ध और कुछ भाग गद्य में है। इसमें सामान्य[2] लोक, नारक लोक, भवनवासी लोक, मनुष्य लोक, तिर्यंच लोक, व्यन्तर लोक, ज्योतिषीलोक, कल्पवासी लोक और सिद्धलोक ये नौ महाधिकार हैं। तथा प्रत्येक अधिकार के भीतर छोटे छोटे और भी अनेक अधिकार हैं। इसका विषय अधिकारों के नामों से ही स्पष्ट है। आशय यह है कि इस ग्रन्थ में सामान्य लोकका आकार, उसका परिमाण, लोकके भेद, मनुष्य, तिर्यंच, नारकी और देवों के निवास स्थान आदि का विस्तार से कथन किया है। इसका एक भाग सोलापुर से प्रकाशित हो चुका है। सम्पादक डा० ए० एन० उपाध्ये, कोल्हापुर और प्रो० हीरालालजी अमरावती हैं। इसमें प्रारम्भ के चार अधिकार प्रकाशित हुए हैं। शेष पांच अधिकार अभी प्रकाशित होने हैं।

## (२) रचनाकाल

मनुष्य लोक नामक चौथे महाधिकार में मनुष्यों का निवास स्थान, उनके भेद आदि का जिस प्रकार विचार किया है उसी प्रकार उसमें भगवान् महावीर के पश्चात् की आचार्य-परम्परा और उसके काल का तथा राज्यकाल गणना का भी उल्लेख किया है। राज्यकाल गणना का उल्लेख करते हुए उसमें बताया है कि जिस समय[3] वीर जिनने मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त किया उसी समय अवन्ति के पुत्र पालक का अभिषेक हुआ। पालक ने साठ

१ चुण्णिसरूवच्छक्करणसरूवपमाण होदि किं जं तं।
अट्ठसहस्सपमाणं तिलोयपण्णत्तिणामाए॥

२ देखो तिलोयपण्णत्ति प्रथम अधिकार गाथा ८८, ८९।

३ देखो तिलोयपण्णत्ति चतुर्थ अधिकार गाथा १५०५ से १५१४ तक।

नोट—हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस में ३१ दिसम्बर तथा १ और २ जनवरी सन् ४४ को प्राच्य-विद्या-परिषद् का अधिवेशन हुआ था। उसके प्राकृत और जैन विभाग के अध्यक्ष प्रो० हीरालालजी एम० ए०, प्रो० किंग एडवर्ड कालेज अमरावती थे। उसमें यह लेख पढ़ा गया था। —सं०

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

वर्ष तक राज्य किया। अनन्तर १५५ वर्ष तक विजय वंश के राजाओं ने, ४० वर्ष तक मौर्य वंश के राजाओं ने, ३० वर्ष तक पुष्यमित्र ने, ६० वर्ष तक वसुमित्र और अग्निमित्र ने, १०० वर्ष तक गन्धर्व राजाओं ने, और ४० वर्ष तक नरवाहन ने राज्य किया। उसके बाद भृत्यान्ध्र राजा हुए। उनका राज्यकाल २४२ वर्ष होता है। तदनन्तर २३१ वर्ष तक गुप्तों का राज्य रहा। इसके बाद इन्द्रपुत्र कल्की हुआ। उसका नाम चतुर्मुख था और आयु ७० वर्ष थी। उसने ४२ वर्ष तक राज्य किया। इस प्रकार इन सब राज्य कालोंका जोड़ ६०+१५५+४०+३०+६०+१००+४०+२४२+२३१+४२ =१००० वर्ष होता है। इसके बाद कल्कि के पुत्र अजितंजय ने दो वर्ष तक धर्म राज्य किया इसका उल्लेख किया है। त्रिलोकप्रज्ञप्ति में आये हुए इस उल्लेख परसे अन्य सभी विद्वानों का मत है कि तिलोयपण्णत्ति की रचना[1] श० सं० ४०० के करीब हुई होगी। यदि इसके बहुत काल बाद हुई होती तो उसमें अजितंजय के बाद के अन्य राजाओं का भी उल्लेख किया जाता।

किन्तु इसका सूक्ष्म निरीक्षण करने से जो अन्य ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होती है उस पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका रचनाकाल ९ वीं शताब्दी के पहले का किसी भी हालत में नहीं हो सकता। अब आगे इसके निरीक्षण से निष्पन्न हुए परिणामों का क्रमवार निर्देश करते हैं—

(१) आचार्य वीरसेन वि० ९ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। इन्होंने षट्खण्डागम पर ७० हजार श्लोक प्रमाण और कसायपाहुड पर ६० हजार श्लोक प्रमाण धवला और जयधवला टीका लिखी हैं। जयधवला टीका पूरी होने के पहले ही वे दिवंगत हो गये थे अतः इसे इनके पट्टशिष्य आचार्य जिनसेन ने पूरा किया है। इन दोनों टीकाओं में प्रचुरमात्रा में ऐतिहासिक सामग्री विद्यमान है। उन्होंने इन टीका ग्रन्थों में जो अपने काल तक के विविध आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है उन मत भेदों से भी मालूम पड़ता है कि उनके काल तक किस विषय का कितना साहित्य पाया जाता था। उन्होंने भी स्वयं उसमें क्या सुधार किया, तथा ऐसा करने के लिये उनके पास आधार क्या था। जीवट्ठाण क्षेत्रानुयोगद्वार की धवला टीका में पृष्ठ १२ से लेकर लोक के आकार और परिमाण के विषय में उन्होंने इसी प्रकार के एक मतभेद का उल्लेख किया है जिससे प्रकृत तिलोयपण्णत्ति के रचनाकाल के निर्णय करने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

उसे देखने से मालूम पड़ता है कि उनके काल तक उपमा लोक के प्रमाण से पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक का प्रमाण भिन्न माना जाता था। उसकी पुष्टि राजवार्तिक से

१ जैन साहित्य और इतिहास पृष्ठ ८।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

भी होती है। वहां पहले अध्याय के २० वें सूत्र की टीका करते हुए पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक का स्पष्ट निर्देश किया है। यथा—

'अधः लोकमूले दिग्विदिक्षु विष्कम्भः सप्त रज्जवः, तिर्यग्लोके रज्जुरेका, ब्रह्मलोके पंच पुनर्लोकाग्रे रज्जुरेका। मध्यलोकादधो रज्जुमवगाह्य शर्कराप्रान्ते अष्टास्वपि दिग्विदिक्षु विष्कम्भः रज्जुरेका रज्वाश्च षट् सप्तभागाः।' इत्यादि

अर्थ—दिशाओं और विदिशाओं में लोक का विस्तार नीचे लोक के मूल में सात राजु, तिर्यग्लोक में एक राजु, ब्रह्म लोक के अन्त में पांच राजु और लोकाग्र में एक राजु है। तथा मध्यलोक से नीचे एक राजु जाने पर शर्करा पृथिवी के अन्त में आठों ही दिशा और विदिशाओं में लोक का विस्तार एक राजु और एक राजु के सात भागों में से छह भाग प्रमाण है; आदि।

राजवार्तिक का यह उल्लेख इतना स्पष्ट है जिससे वर्तमानमें लोक को उत्तर और दक्षिण में जो सर्वत्र सात राजु मानते हैं तथा जिसकी वीरसेन स्वामी ने स्थापना की है उसका खण्डन तो हो ही जाता है साथ ही अन्य आचार्यों के द्वारा माने गये जिस लोक का वीरसेन स्वामी ने खण्डन किया है उसकी सिद्धि भी हो जाती है।

वीरसेन स्वामी ने जिस लोक की सिद्धि की है उससे राजवार्तिक में बताये गये लोक में निम्न प्रकार से अन्तर है—

वीरसेन स्वामी का बतलाया हुआ लोक अधोलोक के मूल में सात राजु तो है पर वह चारों दिशाओं में ही सात राजु है विदिशाओं में नहीं, इसलिये इसका आकार चौकोर हुआ। राजवार्तिक में बतलाया हुआ लोक भी अधोलोक के मूल में सात राजु है पर यह आठों दिशा और विदिशाओं में सात राजु है, अतः इसका आकार गोल हुआ। आगे वीरसेन स्वामी का बतलाया हुआ लोक पूर्व और पश्चिम दिशा में क्रम से घटकर मध्यलोक के पास एक राजु रह जाता है पर यह उत्तर और दक्षिण दिशा में नहीं घटता किन्तु उत्तर और दक्षिण दिशा में सर्वत्र सात राजु रहता है। किन्तु राजवार्तिक में बतलाया हुआ लोक आठों दिशा और विदिशाओं में घटता हुआ मध्यलोक के पास आठों दिशा और विदिशाओं में एक राजु रह जाता है। इसी प्रकार मध्यलोक से ऊर्ध्वलोक तक जानना चाहिये। इनमें से वीरसेन स्वामी के द्वारा बतलाये हुए लोक का घनफल ३४३ घनराजु होता है। फिर भी राजवार्तिककार ने इस पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक का आकारमात्र दिया है उसका घनफल नहीं दिया।

यह तो राजवार्तिक में बतलाया गया पांच द्रव्यों का आधारभूत लोक हुआ। आगे हम राजवार्तिक के आधार से उपमालोक का निर्देश करते हैं जो तीसरे अध्याय के ३८ वें सूत्र की व्याख्या में आठ उपमा प्रमाणों का वर्णन करते समय बतलाया है। वह उल्लेख इस प्रकार है—

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

'ततोऽसंख्येयान् खण्डानपनीयासंख्येयमेकं भागं बुद्ध्या विरलीकृत्य एकैकस्मिन् घनांगुलं दत्वा परस्परेण गुणिता जगच्छ्रेणी। सापरया जगच्छ्रेण्या अभ्यस्ता प्रतरलोकः। स एवापरया जगच्छ्रेण्या संवर्गितो घनलोकः।'

अर्थ—अद्धापल्य के असंख्यात खण्ड करे। उनमेंसे असंख्यात बहुभाग खण्ड अलग रख दे और असंख्यात एक भाग प्रमाण खण्डों का बुद्धि से विरलन कर के विरलित राशि के प्रत्येक एक एक पर घनांगुल को दे दे और उनका परस्पर में गुणा कर ले। इस प्रकार जो राशि उत्पन्न होगी उतना जगच्छ्रेणी का प्रयाण होता है। तथा इसका वर्ग जगप्रतर और घन घनलोक है।

चालु मान्यता के अनुसार जगश्रेणी का प्रमाण राजु है अतः घनलोक का प्रमाण ३४३ घनराजु होगा। यह उपमालोक है। इसके द्वारा अन्य जीवादि पदार्थों की संख्या, वर्तमान निवास आदि जाना जाता है।

राजवार्तिक के उपर्युक्त दो उल्लेखों से यह बात भली भांति समझ में आ जाती है कि वीरसेन स्वामी के समय तक जैन आचार्य उपमा लोक से पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक को भिन्न मानते थे।

श्वेताम्बर[1] परम्परा में उपमालोक का निर्देश हमारे देखने में नहीं आया। हां, पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक का निर्देश सभी श्वेताम्बर साहित्य में किया है। वहां उसका आकार राजवार्तिक के समान बतलाया है। पर उसका घनफल ३४३ घनराजु बिठाने का प्रयत्न किया गया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि वीरसेन स्वामी ने इन दोनों लोकों की मान्यताओं को अबाधित क्यों नहीं चलने दिया। उनके सामने ऐसी कौन सी कठिनाई आ खड़ी हुई जिसके कारण उन्होंने उपमालोक और पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक को एक सिद्ध किया और उपमालोक के प्रमाण को मुख्यता दी।

यह हम ऊपर ही लिख आये हैं कि जीवादि पदार्थों की संख्या आदि का ज्ञान कराने के लिये उपमालोक का उपयोग किया जाता है। अब यदि पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक को ऊपर बतलाये गये अनुसार उपमालोक के संख्यातवें भाग प्रमाण मान लेते हैं तो लोकपूरण समुद्घात को प्राप्त हुए केवली का क्षेत्र जो सब लोक बतलाया है वह नहीं बनता है क्योंकि यहां सब लोक का कथन उपमालोक से हुआ पर पांच द्रव्यों का आधार-

१ 'चउदसरज्जू लोओ बुद्धिकाओ हाइ सत्तरज्जुघणो।' पञ्चमकर्मग्रन्थ, गा० ६७। 'चतुर्दश रज्जवोथस्य सचतुर्दशरज्जुः,××उच्छ्रयमानमिदमस्य। अधस्ताद्देशोनसप्तरज्जुविस्तरः, तिर्यग्लोकमध्ये एकरज्जुविस्तरः, ब्रह्मलोकमध्ये पञ्चरज्जुविस्तीर्णः, उपरि तु लोकान्ते एकरज्जुविस्तृतः शेषस्थानेषु पुनःकोऽपि कियानस्य विस्तर इति। तदेवंरूपो लोकः बुद्धिकृतः × × × सप्तरज्जुघनः। स चेत्थं—' टीका।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

भूतलोक उतना बड़ा है नहीं। वह तो उसके संख्यातवें भाग प्रमाण है। पर लोकपूरण समुद्घात को प्राप्त हुआ केवली पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक के बाहर अपना आत्मप्रदेश फैला नहीं सकता है, क्योंकि आगे धर्मद्रव्य नहीं है। अतः पांच द्रव्यों के आधारभूत लोक को यदि उपमालोक के समान नहीं मानते हैं तो 'लोगपूरणगदो केवली केवडि खेत्ते ? सव्वलोगे'[1] यह या इस प्रकार के और दूसरे आगम वचन निरर्थक हो जाते हैं। यह वह कठिनाई है जो वीरसेन स्वामी के सामने उपस्थित थी। इस कारण उन्होंने उक्त दोनों लोकों की मान्यताओं को आगे नहीं पनपने दिया तथा उपमालोक के प्रमाण को मुख्य माना।

वीरसेन स्वामी ने अपने इस मत की पुष्टि के लिये जिन प्राचीन दो गाथाओं का उल्लेख किया वे उनके मत से प्रतर समुद्घात को प्राप्त केवली के क्षेत्र की सिद्धि के लिये आयी हैं। वे इस प्रकार हैं—

'मुहतलसमासअद्धं[2] वुस्सेधगुणं गुणं च वेधेण।
घणगणिदं जाणेज्जो वेत्तासणसंठिए खेत्ते ॥१॥
मूलं मज्झेण गुणं मुहजहिदद्धमुस्सेधकदिगुणिदं।
घणगणिदं जाणेज्जो मुइंगसंठाणखेत्तम्मि ॥२॥'

अर्थ—'मुख और तल के प्रमाण को जोड़कर आधा करो। पुनः उसका उत्सेध से गुणा कर के मोटाई से गुणा करो। इस प्रकार वेत्रासन के आकारवाले अधोलोक का घनफल उत्पन्न होता है, जिसे जानो ॥१॥

मूल के प्रमाण को मध्यके प्रमाण में जोड़ो या मध्य के प्रमाण में मुख का प्रमाण जोड़ो पुनः इसे आधा कर के ऊँचाई के वर्ग से गुणा करो। ऐसा करने पर मृदंग के आकारवाले क्षेत्र का घनफल प्राप्त होता है, जिसे जानो ॥२॥

उपर्युक्त दो गाथाओं में जहां वेत्रासन और मृदंग संस्थानवाले लोक के घनफल के निकालने की विधि दी है वहां उससे लोक के आकार का भी परिज्ञान हो जाता है। इन दो गाथाओं से लोक के उसी आकार और प्रमाण की पुष्टि होती जिसकी वीरसेन स्वामी ने सिद्धि की है।

इस प्रकार इतने विवेचन से यह निश्चित हो जाता है कि वीरसेन स्वामी के सामने राजवार्तिक आदि में बतलाये गये आकार के विरुद्ध लोक के आकार के सिद्धि करने के लिये केवल उपर्युक्त दो गाथाएं ही थीं। इन्हीं के आधार से वे लोक के आकार को भिन्न प्रकार से सिद्ध कर सके तथा यह भी कहने में समर्थ हुए कि 'जिन[3] ग्रन्थों में

१ धवला क्षेत्रानुयोगद्वार पृ० १२।
२ धवला क्षेत्रानुयोगद्वार पृष्ठ २०।
३ 'ण च तइयाए गाहाए सह विरोहो, एत्थ वि दोसु दिसासु चउव्विहविक्खंभदंसणादो।' धवला क्षेत्रानुयोगद्वार पृ० २१।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

लोक का प्रमाण अधोलोक के मूल में सात राजु, मध्यलोक के पास एक राजु, ब्रह्मस्वर्गके पास पांच राजु और लोकाग्र में एक राजु बतलाया है वह वहां पूर्व और पश्चिम दिशा की अपेक्षा से बतलाया है। उत्तर और दक्षिण दिशा की अपेक्षा से नहीं। इन दोनों दिशाओं की अपेक्षा तो लोक का प्रमाण सर्वत्र सात राजु है। यद्यपि इसका विधान[1] करणानुयोग के ग्रन्थों में नहीं है तो भी वहां निषेध भी नहीं है अतः लोक को उत्तर और दक्षिण में सर्वत्र सात राजु मानना चाहिये।'

अब यदि इतने वक्तव्य को सामने रखकर तिलोयपण्णत्ति के सामान्य लोकाधिकार का निरीक्षण करते हैं तो स्पष्ट मालूम हो जाता है कि इस अधिकार में सामान्यलोक, अधोलोक व ऊर्ध्वलोक के आकार और घनफल का जो विविध प्रक्रियाओं द्वारा निर्देश किया गया है वह स्पष्टतः वीरसेन स्वामी के सामने तिलोयपण्णत्ति के इस अंश के रहते हुए वे इसका प्रमाण रूप से उल्लेख नहीं करते यह कभी संभव नहीं था। वीरसेन स्वामी तिलोयपण्णत्ति से अपरिचित थे यह बात भी नहीं है उन्होंने अनेक स्थलों पर इसका[2] प्रमाण रूप से उल्लेख किया है। अतः जिस तिलोयपण्णत्ति का वीरसेन स्वामी उल्लेख कर रहे हैं वह वर्तमान तिलोयपण्णत्ति से भिन्न होनी चाहिये यह निश्चित होता है।

आगे हम वर्तमान तिलोयपण्णत्ति के वे उद्धरण दिये देते हैं जो वीरसेन स्वामी के मत का अनुसरण करते हैं—

'जगसेढिघणपमाणो[3] लोयायासो सपंचदव्वरिदी।
एस अणंताणंतलोयायासस्स बहुमज्झे ॥९१॥
सयलो एस य लोओ णिप्पण्णो सेढिविंदमाणेण।
तिवियप्पो णादव्वो हेट्ठिम मज्झिमउड्ढभेएण ॥१३६॥
सेढिपमाणायामं भागेसु दक्खिणुत्तरेसु पुढं।
पुव्वावरेसु वासं भूमिमुहे सत्त एक्क पंचेक्का ॥१४९५॥'

अर्थ—'पांच द्रव्यों से व्याप्त यह लोकाकाश जगश्रेणी के घन प्रमाण है और अनन्तानन्त अलोकाकाश के मध्य में स्थित है ॥९१॥ यह सब लोक जगश्रेणी के घनप्रमाण है। तथा इसके अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक ये तीन भेद हैं ॥१३६॥ लोक का प्रमाण दक्षिण और उत्तर दिशा में सर्वत्र जगश्रेणी अर्थात् सात राजु है। तथा पूर्व और पश्चिम दिशा में अधोलोक के पास सात राजु, मध्यलोक के पास एक राजु, ब्रह्मकल्प के पास पांच राजु और लोकाग्रमें एक राजु है ॥१४९॥'

१ 'ण च सत्तरज्जुबाहल्लं करणाणिओगसुत्तविरुद्धं, तत्थविधिप्पडिसेधाभावादो।' धवला क्षेत्रानुयोगद्वार पृ० २२।

२ तिरियलोगोत्ति तिलोयपण्णत्तिसुत्तादो। धवला खंड ३, पृष्ठ ३६

३ तिलोयपण्णत्ति प्रथम अधिकार।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

यहां हमने तिलोयपण्णत्ति का केवल वही उद्धरण दिया है जिसकी सिद्धि वीरसेन स्वामी 'मुहतलसमास' इत्यादि दो गाथाओं और युक्ति से कर रहे हैं। वैसा तो पहला महाधिकार सामान्य लोक, अधोलोक व ऊर्ध्वलोक के विविध प्रकार से निकाले गये घनफलों[1] से भरा पड़ा है जिससे वीरसेन स्वामी की मान्यता की ही पुष्टि होती है।

(२) तिलोयपण्णत्ति में पहले अधिकार की ७ वीं गाथा से लेकर ८७ वीं गाथा तक ८१ गाथाओं में मंगल आदि छह अधिकारों का वर्णन है। यह पूरा का पूरा वर्णन संतपरूवणा की धवला टीका में आये हुए वर्णन से मिलता हुआ है। ये छह अधिकार तिलोयपण्णत्ति में अन्यत्र से संग्रह किये गये हैं इस बात का उल्लेख स्वयं तिलोयपण्णत्तिकार ने पहले अधिकार की ८५ वीं गाथा[2] में किया है, तथा धवला में इन छह अधिकारों का वर्णन करते समय जितनी गाथाएं या श्लोक उद्धृत किये गये हैं वे सब अन्यत्र से लिये गये हैं तिलोयपण्णत्ति से नहीं। इससे मालूम पड़ता है कि तिलोयपण्णत्तिकार के सामने धवला अवश्य रही है।

दोनों ग्रन्थों के कुछ समान उद्धरण निम्न प्रकार हैं—

'इहिणायमाइरियपरंपरागयं मणेणावहारिय पुव्वाइरियायाराणु सरणं तिरयणहेउत्ति × × । धवला संतपरूवणा पृ० ८।'

'इय णायं अवहारिय आइरियपरंपरागदं मणसा।
पुव्वाइरियायाराणुसरणअं तिरयणणिमित्तं ॥८८॥' ति० प० १ अ०

प्रमाणनयनिक्षेपैर्योऽर्थो नाभिसमीक्ष्यते।
युक्तं चायुक्तवद्भाति तस्यायुक्तं च युक्तिवत् ॥' ध० सं० पृ० १६।

'जो णा[3] पयाणणएहिं णिक्खेवेण णिरक्खदे अत्थं।
तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि ॥८२॥' ति० प० १ अ०

'ज्ञानं[4] प्रमाणमित्याहुरुपायो न्यास उच्यते।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ॥' ध० सं० पृ० १७

'णाणं होदि पमाणं णओ विणादुस्स हिदयभावत्थो।
णिक्खेओ विउवाओ जुत्तीए अत्थपडिगहणं ॥८३॥' ति० प० १ अ०

'मङ्गलस्यैकार्थमुच्यते—मङ्गलं पुण्यं पूतं पवित्रं प्रशस्तं शिवं शुभं कल्याणं भद्रं सौख्यमित्येवादीनि।' धवला सं० पृ० ३१।

१ देखो तिलोयपण्णत्ति के पहले अधिकार की २१५ से २५१ गाथा तक।

२ मंगल पहुदिच्छक्कं वक्खाणिय विविहगंथजुत्तीहि।

३ इसी प्रकार की एक गाथा विशेषावश्यकभाष्यमें आई है। यथा—
अत्थं जो ण समिक्खइ णिक्खेवणयप्पमाणओ विहिणा।
तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहाइ ॥२७६४॥

४ यह अकलंक के लघीयस्त्रय के छठें अध्याय का दूसरा श्लोक है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

'पुण्णं पूद पवित्ता पसत्थ सिवभद्दखेमकल्याणा ।
सुहसोक्खादी सव्वे णिद्दिट्ठा मंगलस्स पज्जाया ॥८॥' ति० प० १ अ०
'मङ्गलस्य निरुक्तिरुच्यते—मलं गालयति विनाशयति दहति हन्ति
विशोधयति विध्वंसयतीति मङ्गलम् ।' धवला सं० पृ० ३२ ।
'गालयदि विणासयदे घादेदि दहेदि हंति सोधयदे ।
विद्धंसेदि मलाहं जम्हा तम्हा य मङ्गलं भणिदं ॥९॥' ति० प० १ अ०

इसी प्रकार के पचासों उद्धरण दिये जा सकते हैं जिनसे यह जाना जा सकता है कि एक ग्रन्थ लिखते समय दूसरा ग्रन्थ अवश्य सामने रहा है। यहां पाठक एक विशेषता और देखेंगे कि धवला में जो गाथा या श्लोक अन्यत्र से उद्धृत हैं तिलोयपण्णत्ति में वे भी मूल में शामिल कर लिये गये हैं। इससे तो यही ज्ञात होता है कि तिलोयपण्णत्ति लिखते समय लेखक के सामने धवला अवश्य रही है।

(३) लघीयस्त्रय आदि अनेक ग्रन्थों के कर्त्ता भट्टाकलंक देव आठवीं शताब्दी के प्रसिद्ध तार्किक विद्वान् हैं। इनके बनाये हुए तत्वार्थभाष्य का उल्लेख वीरसेन स्वामी ने धवला[1] टीका में अनेक जगह किया है। 'ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः' इत्यादि श्लोक इनकी मौलिक कृति है जो लघीयस्त्रय के छठें अध्याय में आया है। तिलोयपण्णत्तिकार ने इसे भी नहीं छोड़ा। लघीयस्त्रय में जहां यह श्लोक आया है वहां से इसके अलग कर देने पर प्रकरण ही अधूरा रह जाता है। पर तिलोयपण्णत्ति में इसके परिवर्तित रूप की स्थिति ऐसे स्थल पर है कि यदि वहां से उसे अलग भी कर दिया जाय तो भी प्रकरण की एक रूपता बनी रहती है। वीरसेन स्वामी ने धवला में उक्त श्लोक को उद्धृत किया है। तिलोयपण्णत्ति को देखने से ऐसा मालूम होता है कि तिलोयपण्णत्तिकार ने इसे लघीयस्त्रय से न लेकर धवला से ही लिया है, क्योंकि धवला में इसके साथ जो एक दूसरा श्लोक उद्धृत है उसे भी उसी क्रम से तिलोयपण्णत्तिकार ने अपना लिया है। इससे भी यही प्रतीत होता है कि तिलोयपण्णत्ति की रचना धवला के बाद हुई है।

(४) धवला द्रव्यप्रमाणानुयोग द्वार के पृष्ठ ३६ में तिलोयपण्णत्ति का एक गाथांश उद्धृत किया है। जो निम्न प्रकार है—

'दुगुणदुगुणो दुवग्गो णिरंतरो तिरियलोगो' त्ति ।

वर्त्तमान तिलोयपण्णति में इसकी पर्याप्त खोज की, किन्तु उसमें यह नहीं मिला। हां, इस प्रकार की एक गाथा स्पर्शनानुयोगद्वार में वीरसेन स्वामी ने अवश्य उद्धृत की है; जो इस प्रकार है—

'चंदाइच्चगहेहिं चेवं णक्खत्ततारारूवेहिं ।
दुगुणदुगुणेहिं णीरंतरेहि दुवग्गो तिरियलोगो ।'

१ देखो धवला संतपरूवणा पृष्ठ १०३ ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

किन्तु वहां यह नहीं बतलाया कि यह कहां की है। मालूम पड़ता है कि इसी का उपर्युक्त गाथांश परिवर्तित रूप है। यदि यह अनुमान ठीक हो तो कहना होगा कि तिलोयपण्णत्ति में पूरी गाथा इस प्रकार रही होगी। जो कुछ भी हो, पर इतना सच है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्ति में इसका न पाया जाना यह सिद्ध करता है कि यह तिलोयपण्णत्ति उससे भिन्न है।

(५) यह हम ऊपर ही बतला आये हैं कि तिलोयपण्णत्ति में यत्र तत्र गद्य भाग भी पाया जाता है। इसका बहुत कुछ अंश धवला[1] में आये हुए इस विषय के गद्य भाग से मिलता हुआ है। अतः यह शंका होना स्वभाविक है कि इस गद्य भाग का पूर्ववर्ती लेखक कौन रहा होगा। इस शंका के दूर करने के लिये हम एक ऐसा गद्यांश उपस्थित करते हैं जिससे इसका निर्णय करने में बड़ी सहायता मिलती है। वह इस प्रकार है—

'एसा तप्पाओग्गसंखेज्जरूवाहियजंबूदीवछेदणायसहिददीवसायररूवमेत्तरज्जुच्छेदपमाणपरिक्खाविहीण अण्णाइरिओवएसपरंपसण्णुसारिणी केवलं तु तिलोयपण्णत्ति सुत्ताणुसारिजोदिसियदेवभागहारपदुप्पाइदसुत्तावलंबिजुत्तिबलेण पयदगच्छसाहणट्ठमम्हेहि परूविदा।'

यह गद्यांश धवला स्पर्शनानुयोगद्वार पृ० १५७ का है। तिलोयपण्णत्ति में यह इसी प्रकार पाया जाता है। अन्तर केवल इतना है कि वहां 'अम्हेहि' के स्थान में 'एसा परूवणा' पाठ है। पर विचार करने से यह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि 'एसा' पद गद्य के प्रारम्भ में ही आया है अतः पुनः उसी पद के देने की आवश्यकता नहीं रहती। तथा 'परिक्खाविही' यह पद विशेष्य है; अतः 'परूवणा' पद भी निष्फल हो जाता है।

इस गद्यांश का यह भाव है—

'द्वीप और समुद्रों की संख्या में एक अधिक जम्बू द्वीप के अर्धच्छेद मिलाने पर जितनी संख्या आवे उससे तद्योग्य संख्यात अधिक राजु के अर्धच्छेद होते हैं। इस प्रकार की परीक्षा विधि यद्यपि अन्य आचार्यों के उपदेशपरम्परा का अनुसरण नहीं करती फिर भी हमने केवल ज्योतिषी देवों का भागहार बतानेवाले सूत्र का अवलम्बन करनेवाली युक्ति के बल से प्रकृत गच्छ के सिद्ध करने के लिये उसका कथन किया है। जो सूत्र का अनुसरण करनेवाली युक्ति तिलोयपण्णत्ति सूत्र के अनुसार दी गई है।'

इस गद्य भाग से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त गद्य भाग में एक राजु के जितने अर्धच्छेद बतलाये हैं वे तिलोयपण्णत्ति में नहीं बतलाये गये हैं किन्तु तिलोयपण्णत्ति में जो ज्योतिषी देवों के भागहार का कथन करनेवाला सूत्र है उसके बल मे सिद्ध किये गये हैं। अब यदि यह गद्य भाग तिलोयपण्णत्ति का होता तो उसी में 'तिलोयपण्णत्तिसुत्ताणुसारि'

---

१ धवला क्षेत्रानुयोगद्वार पृ० ४१ और तिलोयपण्णत्ति प्रथम अधिकार पृ० ४३ का 'संपहि लोगपेरंतट्ठिदवादवलय' इत्यादि गद्यभाग मिलाओ। प्रायः तिलोयपण्णत्ति के अधिकांश गद्य भागों की यही स्थिति है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पद देने की और उसी के किसी एक सूत्र के बल पर राजु के चालू मान्यता से संख्यात अधिक अर्धच्छेद सिद्ध करने की क्या आवश्यकता थी। इससे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि यह गद्य भाग धवला से तिलोयपण्णत्ति में लिया गया है। नहीं तो वीरसेन स्वामी जोर देकर 'हमने यह परीक्षाविधि कही है' यह न कहते। कोई भी मनुष्य अपनी युक्ति को ही अपनी कहता है। उक्त गद्य भाग में आया हुआ 'अम्हेहि' पद साफ बतला रहा है कि यह युक्ति वीरसेन स्वामी की है। इस प्रकार इस गद्य भाग से भी यही सिद्ध होता है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्ति की रचना धवला के अनन्तर हुई है। तथा जैसा कि हम ऊपर बतला आये हैं कि वीरसेन स्वामी के सामने एक तिलोयपण्णत्ति थी। इस गद्य भाग से भी उसकी पुष्टि होती है। दूसरे वर्तमान तिलोयपण्णत्ति में उक्त गद्य भाग को सम्मिलित करते समय जिस प्रकार 'अम्हेहि' पद को बदल दिया उस प्रकार 'तिलोयपण्णत्ति सुत्ताणुसारि' पद को नहीं बदला। इससे भी यही सिद्ध होता है कि जिसने वर्तमान तिलोयपण्णत्ति का संग्रह किया है उसके सामने एक अन्य तिलोयपण्णत्ति थी या उसे दूसरी तिलोयपण्णत्ति के रहने का निश्चय था।

इस प्रकार हमने पांच मुख्य प्रमाण उपस्थित किये हैं जिनसे यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्ति का संग्रह धवला के अनन्तर हुआ है। धवला के अन्त में एक प्रशस्ति[1] दी है जिससे ज्ञात होता है कि धवला की समाप्ति शक ७३८ में हुई थी। इससे हम वर्तमान तिलोयपण्णत्ति के रचे जाने की पूर्वावधि तो जान लेते हैं। अब उत्तरावधि जानना शेष है।

दिगम्बर सम्प्रदाय में त्रिलोकसार का खूब प्रचार है। इसके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं। ये शक सम्वत्[2] ९०० के लगभग हुए हैं। इन्होंने अपना त्रिलोकसार इसी तिलोयपण्णत्ति के आधार से रचा है यह दोनों ग्रन्थों के देखने से अच्छी तरह ज्ञात हो जाता है। फिर भी हम दोनों ग्रन्थों की कुछ ऐसी गाथाएं उपस्थित किये देते हैं जिनसे यह जाना जा सके कि त्रिलोकसार की रचना करते समय सामने तिलोयपण्णत्ति अवश्य रही है। यथा—

'जगसेढिघणपमाणो लोयायासो सपंचदव्व रिदो।
एस अणंताणंतलोयायासस्स बहुमज्झे ॥' ति० प० गा० ९१।
'सव्वागासमणंतं तस्स य बहुमज्झदेसभागम्हि।
लोगेसंखपदेसो जगसेढिघणप्पमाणो हु ॥' त्रि० सा० पृ० ४।
'अट्ठविहं सव्वजगं सामण्णं तह य दोण्णि चउरस्सं।
जवमुरअं जवमज्झं मंदरदूसाइ गिरिगडयं ॥' ति० प० गा० २१५ अ० १।

१ देखो धवला प्रथम भाग भूमिका पृष्ठ ४२।

२ देखो जैनसाहित्य और इतिहास में 'चामुण्डराय और उनके समकालीन आचार्य' शीर्षक लेख।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

'सामण्णं दो आयद जवमुर जवमज्झ मंदरं दूसं ।
गिरिगडगेण वि जाणह अट्ठवियप्पो अधोलोगो ॥' त्रि० सा० गा० ११५
'बत्तीसट्ठावीसं चउवीसं वीस सोलसट्ठं च ।
हेट्ठिमछप्पुढवीणं बहलत्तं जोयणसहस्सा ॥' ति० प० गा० २२, अ० २ ।
'बत्तीसमट्ठवीसं चउवीसं वीस सोलसट्ठाणि ।
हेट्ठिमछप्पुढवीणं सहस्समाणेहि बाहुलियं ॥' त्रि० सा० गा० १४९।
'तीसं पणवीसं च य पण्णरसं दस तिण्णि होंति लक्खाणि ।
पणरहिदेक्कं लक्खं पंच य रयणाइपुढवीणं ॥' ति० प० गा० २७, अ० २
'तीसं पणुवीसं पण्णरसं दस लिण्णि पंचहीणेक्कं ।
लक्खं सुद्धं पंच य पुढवीसु कमेण णिरयाणि ॥' त्रि० सा० गा० १५१।
'सत्तमखिदिबहुमज्झे बिलाणि सेसेसु अप्पबहुलत्तं ।
उपरिं हेट्ठे जोवणसहस्समुज्झिय हवंति पडलकमे ॥' ति०प०गा०२८, अ०२।
'सत्तमखिदिबहुमज्झे बिलाणिसेसासु अप्पबहुलोत्ति ।
हेट्ठुवरिं च सहस्सं वज्जिय पडलक्कमे होंति ॥' त्रि० सा० गा० १५०।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात तो हो जाता है कि शक सम्वत् ७३८ से लेकर ९०० के मध्य में वर्तमान तिलोयपण्णत्ति की रचना हुई है। फिर भी यह जानना शेष है कि इसके संकलन करनेवाले कौन हैं और उन्होंने इस भूमण्डल को इस काल के मध्य में कब सुशोभित किया। अतः इसीका विचार करते हैं।

### (३) कर्त्ताविचार—

यद्यपि तिलोयपण्णत्ति के अन्त में कोई प्रशस्ति नहीं दी है और न प्रत्येक अधिकार के अन्त में अधिकार की समप्ति के सूचक वाक्यों में ही कर्त्ता का निर्देश किया है फिर भी इसके अन्त में एक गाथा आई है जिससे इसके कर्ता और रचनाकाल के निश्चय करने में बहुत कुछ सहायता मिलती है। गाथा इस प्रकार है—

पणमह जिणवरवसहं गणहरवसहं तहेव गुणवसहं ।
दट्ठूण परिस (अरिस) वसहं जदिवसहं धम्मसुत्तपाठए वसहं ॥

अर्थ—आर्ष ग्रन्थों में श्रेष्ठ ऐसे अमुक आर्षग्रन्थ को देखकर जिनवरों में श्रेष्ठ ऐसे भगवान् महावीर को, गणधरों में श्रेष्ठ ऐसे गौतम गणधर को तथा गुणों में श्रेष्ठ और धर्मसूत्र के पाठकों में प्रमुख ऐसे यतिवृषभ आचार्य को तुम नमस्कार करो।

इस गाथा में तीन को नमस्कार किया है। भगवान् महावीर इस काल के अन्तिम तीर्थंकर हैं और गौतम उनके प्रधान गणधर हैं। जो श्रुत आचार्य परंपरा से प्रवाहित होता चला आ रहा है उसके जनक और प्रवर्तक ये ही दो महापुरुष हैं अतः प्रारम्भ में

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

इन दो को नमस्कार किया यह तो युक्त है पर आचार्यों में खास कर यतिवृषभ आचार्य को नमस्कार क्यों किया यह विचारणीय है।

अन्य विद्वानों का अनुमान है कि यहाँ 'जइवसह' पद श्लेषरूप में आया है अतः इस पद के द्वारा ग्रन्थकार ने अपने नाम का निर्देश किया है। और इस प्रकार वे वर्तमान तिलोयपण्णत्ति के कर्ता उन्हीं यतिवृषभ को मानते हैं जिन्होंने कसायपाहुड पर चूर्णिसूत्र लिखे। अतः हम यहां तिलोयपण्णत्ति के सिवाय अन्य प्रमाणों के आधार से उन्हीं के विषय में पहले विचार कर लेते हैं, क्योंकि ऐसा किये बिना न तो आचार्य यतिवृषभ के समय का ही ठीक तरह से निर्णय हो पाता है और न तिलोयपण्णत्ति के कर्त्ता और और समय का भी।

वीरसेन स्वामी ने जयधवला के प्रारम्भ में आचार्य यतिवृषभ का निम्न शब्दों द्वारा स्मरण किया है—

'जो अज्जमंखुसीसो अंतेवासी विणागहत्थिस्स।
सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वरं देऊ ॥८॥

'अर्थात्—जो आर्यमंक्षु आचार्य के शिष्य हैं और नागहस्ति आचार्य के अन्तेवासी हैं वृत्तिसूत्रके कर्ता वे यतिवृषभ मुझे वर प्रदान करें।८।'

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वीरसेन स्वामी के मत से यतिवृषभ आचार्य आर्यमंक्षु के शिष्य और नागहस्ति के अन्तेवासी रहे हैं। वीरसेन स्वामी ने इस विषय में इससे अधिक और कोई उल्लेख नहीं किया है। अन्यत्र भी हमें इस विषय की कोई महत्त्व की सामग्री नहीं प्राप्त हुई। हां, श्वेताम्बर परंपरा में कुछ ऐसी पट्टावलियां हैं जिनसे आर्यमंक्षु और नागहस्ति के समय और क्रम पर प्रकाश पड़ता है। उनमें नन्दिसूत्र की पट्टावली मुख्य है। वहां लिखा है—

'भणगं करगं झरगं पभावगं णाणदंसणगुणाणं।
वंदामि अज्जमंगुं सुयसागरपारगं धीरं ॥२८॥

अर्थ—'सूत्रों का कथन करने वाले, सूत्रानुसार आचार का पालन करने वाले, ध्यानी, ज्ञान और दर्शन गुणों के प्रभावक तथा श्रुत सागर के पारगामी और धीर आर्यमंगु को नमस्कार करता हूं।

इसके बाद आर्यनन्दलका उल्लेख करके नागहस्ती के विषय में लिखा है—

वड्ढउ वायगवंसो जसवंसो अज्जणागहत्थीणं।
वागरण करणभंगिय कम्मपयडीपहाणाणं।३०।'

अर्थ—जो व्याकरण, करण और चतुर्भंगी के प्रतिपादक शास्त्र और कर्म प्रकृति के ज्ञाताओं में प्रधान हैं ऐसे आर्य नागहस्ति का यशस्वी वाचक वंश वृद्धि को प्राप्त हो।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

नन्दिसूत्र के इन उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है कि आर्यमंगु के शिष्य आर्यनन्दिल और आर्यनन्दिल के शिष्य नागहस्ती थे। इनमें आर्यमंगु को सूत्रों का व्याख्याता और नागहस्ति को कर्म प्रकृति का ज्ञाता भी बतलाया है अतः अधिक सम्भव तो यही है कि वीरसेन स्वामी ने धवला और जयधवला में जिन आर्यमंक्षु और नागहस्ति का उल्लेख किया है वे ये ही दोनों महापुरुष हैं। तथा यतिवृषभ स्थविर इन्हीं के शिष्य और अन्तेवासी रहे होंगे। साधारणतः इनका काल वीर नि० सम्वत् ४५० से ६०० के लगभग माना गया है, अतः यतिवृषभ स्थविर श० स० ४०० के विद्वान् न होकर वीरनिर्वाण सम्वत् ४५० से ६०० के मध्य के विद्वान् होना चाहिये।

यहां यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि तिलोयपण्णत्ति में जो १००० वर्ष तक की राज्यकाल गणना दी है उसका क्या होगा, क्योंकि हम तिलोयपण्णत्ति के रचनाकाल का विचार करते समय यह सिद्ध कर आये हैं कि यह ग्रन्थ श० सं० ७३८ से लेकर ९०० तक के मध्य में कभी संकलित किया गया है, अतः इसके कर्ता यतिवृषभ किसी भी हालत में नहीं हो सकते।

हां, यहां एक प्रश्न यह उपस्थित किया जा सकता है कि धवला और जयधवला में वीर नि० से ६८३ वर्ष तक की अंगपूर्वधारियों की पट्टावलि दी है अतः गुणधर और धरसेन आचार्यों का इसके बाद होना ही सम्भव है। पर मेरा ख्याल है कि जो श्रुत धरसेन और गुणधर आचार्य को प्राप्त हुआ वह गौतम गणधर से लेकर किस क्रम से प्रवाहित हुआ इस बात का ज्ञान कराने के लिये तथा इन आचार्यों को प्राप्त हुए श्रुत में प्रमाणिकता का निश्चय कराने के लिये वहां वे पट्टावलियां दी गई हैं। पट्टावलियों के मध्य में आ० गुणधर और धरसेन के नाम का उल्लेख करना सम्भव था क्योंकि पट्टधर आचार्यों में उनका समावेश नहीं होता है। अतः उनके अन्त में इनका नामोल्लेख किया गया है। इसलिये ६८३ वर्ष की मर्यादा को छोड़कर ही इनके समय का निर्णय करना युक्त होगा।

इस समय आचार्य यतिवृषभ के रचे गये साहित्य में से कसायपाहुड पर लिखे गये चूर्णिसूत्र उपलब्ध हैं। उनमें उपशामना के भेद बतलाते हुए वे लिखते हैं—

'उवसामणा दुविहा करणोवसामणा अकरणोवसामणा च। जा सा अकरणोवसामणा तिस्से दुवे णामधेयाणि अकरणोवसामणा त्ति वि अणुदिण्णोवसामणा त्ति वि। एसा कम्मपवादे। जा सा करणोवसामणा सा दुविहा दे सकरणोवसामणा त्ति वि सव्वकरणोवसामणा त्ति वि। देसकरणोवसामणाए दुवे णामाणि देसकरणोवसामणा त्ति वि अप्पसत्थउवसामणा त्ति वि। एसा कम्मपयडीसु।

अर्थात्—'उपशामना के दो भेद हैं करणोपशामना और अकरणोपशामना। अकरणोपशामना के दो नाम हैं अकरणोपशामना और अनुदीर्णोपशामना। इसका कथन कर्मप्रवाद में

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

किया है। तथा करणोपशामना के दो भेद हैं देशकरणोपशामना और सर्व करणोपशामना। इनमें से देशकरणोपशामना के दो नाम हैं देशकरणोपशामना और अप्रशस्त उपशामना। इसका कथन कर्म प्रकृति में किया है।'

यहां यतिवृषभ आचार्य स्पष्टतः निर्देश कर रहे हैं कि अकरणोपशामना का कथन कर्मप्रवाद में और देशकरणोपशामना का कथन कर्मप्रकृति में किया है। कर्मप्रवाद दूसरे पूर्वका नाम है और कर्मप्रकृति अग्रायणीय पूर्व का एक अवान्तर पाहुड है। यतिवृषभ आचार्य के इस उल्लेख से मालूम होता है कि वे उस समय इस भूमण्डल को सुशोभित कर रहे थे जब कर्मप्रवाद और कर्मप्रकृति का लोप नहीं हुआ था क्योंकि विषय भेद की सूचना पूर्वक पृथक् पृथक् ग्रन्थ का नामनिर्देश करना तभी सम्भव है जब इन ग्रन्थों का अवलोकन किया गया हो। यद्यपि उत्तरवर्ती बहुत से आचार्य इस प्रकार का निर्देश करते हुए पाये जाते हैं पर उनका यह अनुसरण मात्र है। किन्तु यतिवृषभ आचार्य की स्थिति इससे बहुत कुछ भिन्न है। वे उस समय के विद्वान् हैं जब जैन वाङ्मय को स्वतन्त्र पुस्तकारूढ़ करने का उपक्रम ही किया जा रहा था। अतः उनके द्वारा इस प्रकार का उल्लेख करना विशेष अर्थ रखता है। धवला आदि में जो ६८३ वर्ष की अंगपूर्वधारियों की पट्टावली पाई जाती है उसमें पूर्वधारियों का अस्तित्व काल वीर० नि० सं० के प्रारम्भ से लेकर ३३५ वर्ष तक माना है। तथा पहले हम यतिवृषभ आचार्य का काल ४५० से ६०० तक के भीतर लिख आये हैं। इस तरह पूर्वधारियों के काल से यतिवृषभ के काल तक मध्यका अन्तर ११५ वर्ष होता है, अतः बहुत सम्भव है कि परिपाटी क्रम से न भी सही तो भी यतिवृषभ आचार्य के काल तक पूर्व ज्ञानियों की परम्परा चालू रही होगी। और इस प्रकार यतिवृषभ स्थविरको भी उक्त पूर्व साहित्य जानकारों से सीधा सम्पर्क रहा होगा। यदि हमारा यह तर्क सच हो जिसके सच होने की बहुत कुछ सम्भावना है तो इससे भी यही सिद्ध होता है कि आचार्य यतिवृषभ उस समय के विद्वान् होने चाहिये जब पूर्वधारियों की त्रुटित परम्परा इस धरातल पर चालू थी।

इस प्रकार जब कि यतिवृषभ स्थविर का अस्तित्वकाल वी० नि० सं० ४५० से ६०० तक के बीच का निश्चित होता है तो वे वर्तमान तिलोयपण्णत्ति के कर्ता किसी भी हालत में नहीं हो सकते, क्योंकि इसका रचनाकाल, जैसा कि हम पहले बतला आये हैं, श० सं० ७३८ के बाद का ही निश्चित होता है।

अब हमें यह देखना है कि यदि इस तिलोयपण्णत्ति के कर्ता आचार्य यतिवृषभ नहीं हैं तो इसके अन्त में आई हुई जिस गाथा का उल्लेख हम पहले कर आये हैं उसमें यतिवृषभ आचर्य को नमस्कार क्यों किया गया है। इससे तो यही पता चलता है कि उनका इस ग्रन्थ के साथ साक्षात् या परम्परा रूप से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य होना चाहिये। किन्तु इस बात का विचार करने के पहले हम यह बतला देना

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

चाहते हैं कि थोड़े से परिवर्तन के साथ इसी प्रकार की एक गाथा जयधवला के सम्यक्त्व अनुयोगद्वार के आदि में भी आई है। जो इस प्रकार है—

'पणमह जिणवरवसहं गणहरवसहं तहेव गुणहरवसहं।
दुसहपरीसह विसहं जइवसहं धम्मसुत्तपाढरवसहं॥'

अर्थात्—'जिनवरों में श्रेष्ठ ऐसे भगवान् महावीर को, गणधरों में श्रेष्ठ ऐसे गौतम गणधर को, ऋषियों में श्रेष्ठ ऐसे गुणधर आचार्य को तथा कठिन परीषहों को जीतनेवाले और धर्मसूत्रों के पाठकों में श्रेष्ठ ऐसे यतिवृषभ स्थविर को नमस्कार करो।

कसायपाहुड और उस पर लिखे गये चूर्णिसूत्रों के अन्तिम अनुयोगद्वारों के टीकाकार जिनसेन स्वामी हैं। अतः यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती कि इस मंगल गाथा के रचयिता भी वे ही होंगे। उन्होंने इसमें चार को नमस्कार किया है। यहां इन चारों को ही नमस्कार करने का कारण स्पष्ट है। मेरी राय में इस गाथा की और तिलोयपण्णत्ति के अन्त में आई हुई गाथा की स्थिति समान है। अतः हम इस निदान से इतना तो जान ही लेते हैं कि इस तिलोयपण्णत्ति से यतिवृषभ स्थविर का कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है किन्तु वह किस प्रकार है यह जानना फिर भी शेष है।

यह तो हम पहले ही बतला आये हैं कि वीरसेन स्वामी के सामने एक तिलोयपण्णत्ती थी जिसका उन्होंने अनेक जगह उल्लेख किया है। साथ ही यह भी बतला आये हैं कि वर्तमान तिलोयपण्णत्ति में भी इससे भिन्न एक तिलोयपण्णत्ति का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। अतः बहुत कुछ सम्भव तो यही है कि इसके रचयिता यतिवृषभ आचार्य रहे हों। और वर्तमान तिलोयपण्णत्ति के संकलयिताने अन्तिम मंगलगाथा द्वारा इसी बात को स्वीकार किया हो। सम्यक्त्व अनुयोगद्वार की गाथा से तिलोयपण्णत्ति के अन्त में आई हुई गाथा में जो मौलिक परिवर्तन दिखाई देता है वह कुछ अर्थ अवश्य रखता है।

सम्यक्त्व अनुयोगद्वार की गाथा में 'गुणहरवसहं' पाठ है जब कि तिलोयपण्णत्ति की गाथा में उसके स्थान में 'गुणवसहं' पाठ पाया जाता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व अनुयोग-द्वार की गाथा में तीसरा चरण 'दुसहपरीसहविसहं' है जब कि तिलोयपण्णत्ति की गाथा में उसके स्थान में 'दट्ठण यरिसरअरिसो वसहं' पाठ पाया जाता है।

यह तो हम पहले ही बतला आये है कि कसायपाहुड के एक अधिकार का नाम सम्यक्त्व अनुयोगद्वार है। तथा कसायपाहुड के कर्ता गुणधर आचार्य और उस पर चूर्णिसूत्र के रचयिहता यतिवृषभ आचार्य हैं। इसी सबब से जिनसेन आचार्य ने सम्यक्त्व अनुयोगद्वार के आदि में मंगल करते हुए गुणधर और यतिवृषभ का भी स्मरण किया है। मालूम होता है कि इसी प्रकार जिस तिलोयपण्णत्तिसुत्त की सूचना वीरसेन स्वामी ने अपनी धवला टीका में की है उसके कर्ता यतिवृषभ आचार्य हों और वर्तमान तिलोय-पण्णत्ति की रचना में वह मूल आधार रही हो, इसी बात का ज्ञान कराने के लिये वर्तमान

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

तिलोयपण्णत्ति में इन दोनों का स्मरण किया गया होगा। यद्यपि तिलोयपण्णत्ति की लिखित प्रतियों में 'परिमि' या 'परिस' पाठ पाया जाता है। पर हमने 'दट्ठूण' पद को ध्यान में रख कर 'अरिसवसहं' पाठ सुझाया है। इसका अर्थ 'आर्ष ग्रन्थों में श्रेष्ठ' होता है। हमारा अनुमान है कि इस पद के द्वारा पूर्ववर्ती तिलोयपण्णत्ति की सूचना की गई है।

इस प्रकार तिलोयपण्णत्ति के अन्त में आई हुई मंगल गाथा से हमें दो बातों की सूचना मिलती है। पहली यह कि वर्तमान तिलोयपण्णत्ति के पहले एक आर्ष ग्रन्थ था जिसे देख कर इसकी रचना की गई है और दूसरी यह कि उसके कर्ता यतिवृषभ स्थविर थे।

अब हमें दो बातों का और विचार करना है। पहली यह कि यदि वर्तमान तिलोय-पण्णत्ति के पहले एक दूसरी तिलोयपण्णत्ति थी तो इसका संकलन क्यों किया गया। और दूसरी यह कि इसका संकलन करनेवाला कौन है—

इनमें से पहली बात के सम्बन्ध में हमारा निम्न वक्तव्य है—

जैन परम्परा में समस्त द्वादशांग और उसके अनुसार रचे गये अन्य प्रकीर्णक ग्रन्थों को श्रुत[1] कहते हैं। मेरे ख्याल से इस अर्थ में प्रयुक्त हुए श्रुत शब्द का ऐतिहासिक महत्त्व है। बात यह है कि पहले सुनकर याद रखने की परिपाटी थी। जो भगवान् महावीर के पश्चात् दिगम्बर मान्यतानुसार ६८३ वर्ष तक चली। इसके पश्चात् वह प्रायः लुप्त हो गई। इसका यह कारण प्रतीत होता है कि जिस प्रकार वैदिक परम्परा में अध्ययन और अध्यापन के लिये स्वतन्त्र रूप से एक वर्ग का ही निर्माण कर दिया गया था। जैन परम्परा में वह बात न थी। किन्तु यहां श्रावक[2] के दान और पूजा ये दो ही काम मुख्य माने जाते थे। यद्यपि जैन परम्परा में यह काम साधुओं को सौंपा गया था पर साधुओं के मुख्य काम संयम, ध्यान और तप रहे, अतः उनमें भी इसे गौण स्थान ही प्राप्त हुआ। परिणाम यह हुआ कि समस्त जैन वाङ्मय लुप्त होने लगा। यद्यपि इसके पहले ऋषियों का इधर ध्यान गया पर बहुत ही कम। यही सबब है कि हम अपनी पट्टावलियों में ग्रन्थ निर्माण और उनके पुस्तकारूढ़ होने का वृतान्त ६८३ वर्ष के बाद का ही पाते हैं। यद्यपि ६८३ वष के भीतर भी ग्रन्थ निर्माण और उनके पुस्तकारूढ़ होने का क्रम चालू हो गया था पर वह नहीं के बराबर था। यह भी सम्भव है कि ६८३ वर्ष के भीतर इस परिपाटी को अनुचित माना जाता रहा होगा। अतः भगवान् महावीर ने जिसे अपनी दिव्यध्वनि में कहा और गौतम गणधर ने जिसे निबद्ध किया उसका उत्तरोत्तर ह्रास तो होता ही गया साथ ही वक्ताओं और श्रोताओं के स्मृति दोष से तथा अन्य कारणों से

१ श्रुतंद्वयनेकद्वादशभेदम्। तत्त्वार्थसूत्र अ० १, सूत्र २०।

१ देखो जयधवला पृष्ठ ८३।

२ 'दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मेण सावया तेण विणा।' रयणसार।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

उसमें विकार भी आता गया। तथा इसी विकार ने आगे चलकर मान्यता भेद का स्थान ग्रहण किया। इन मान्यताओं में कुछ ऐसी मान्यताएं भी रूढ़ हो गईं जिनका मूल साहित्य के साथ उसी रूप में मेल बिठाना कठिन हो गया। वीरसेन स्वामी ने अपनी धवला टीका में लोक के आकार सम्बन्धी जिस मान्यता का खण्डन किया है वह इसी प्रकार की एक मान्यता थी। बहुत कुछ सम्भव है कि इस कारण से या इसी प्रकार के और दूसरे कारणों से वीरसेन स्वामी के सामने एक अन्य तिलोयपण्णत्ति के संकलन करने का विचार चला होगा। हमें वर्तमान तिलोयपण्णत्ति के संकलन करने का यही कारण प्रतीत होता है।

अब हम वर्तमान तिलोयपण्णत्ति का संकलन किसने किया होगा इसका विचार करते हैं—

यह तो हम पहले ही लिख आये हैं कि तिलोयपण्णत्ति का संकलन शक सं० ७३८ से लेकर शक सं० ९०० के मध्य में हुआ है। साथ ही यह भी बतला आये हैं कि नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने शक सं० ९०० के आसपास इसी के आधार से अपने त्रिलोकसार की रचना की। ये वे ही नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती हैं जिन्होंने धवला आदि सिद्धान्त ग्रन्थों के आधार पर जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड और लब्धिसार-क्षपणासार की रचना की है। इससे ज्ञात तो यही होता है कि इन्हें सिद्धान्त ग्रन्थों के साथ तिलोयपण्णत्ति भी वारिस में मिली होगी। अतः नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के समय में होने वाले अन्य आचार्यों ने इसका संकलन किया होगा यह तो सम्भव नहीं। हां, यह अधिक सम्भव है कि इसका संकलन धवला और जयधवला की रचना होते समय या उसके कुछ काल बाद ही हो गया होगा। इसलिये हमें इसके संकलन कर्ता का विचार करते समय वीरसेन स्वामी और जिनसेन स्वामी को केन्द्र मान कर ही विचार करना चाहिये।

यद्यपि धवला टीका का कुछ गद्य भाग तिलोयपण्णत्ति में अक्षरशः ले लिया गया है, अतः यह सम्भव है कि स्वयं वीरसेन स्वामी ने ऐसा किया हो। किन्तु निम्न कारणों से ज्ञात होता है कि वीरसेन स्वामी ने इसका संकलन नहीं किया होगा।

(१) जयधवला के जिस भाग के लेखक आचार्य जिनसेन हैं उसकी एक गाथा कुछ परिवर्तन के साथ तिलोयपण्णत्ति के अन्त में पाई जाती है।

(२) धवला का जो गद्य भाग हम पहले उद्धृत कर आये हैं उसमें 'अम्हेहि' पद के बिना देखते हैं।

अब रही जिनसेन आचार्य की बात सो यद्यपि अभी तक ऐसा स्पष्ट प्रमाण तो नहीं मिला जिससे यह कहा जा सके कि वर्तमान तिलोयपण्णत्ति का संकलन इन्होंने किया है। फिर भी निम्न कारणों से ज्ञात होता है कि इसके संकलन कर्ता आचार्य जिनसेन होने चाहिये।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

क्रियाओं का विशद और सूक्ष्म निरूपण किया गया है तथा क्रमशः आठ कषाय और निद्रादि का संक्रमण, मनःपर्यय ज्ञानवरणादि के बन्ध का देश घातिकरण, चार संज्वलन और नोकषायों का अन्तरकरण तथा नपुंसकवेद और स्त्रीवेद का संक्रमण बताया गया है। इस प्रकार यह समस्त चूलिका महत्त्वपूर्ण और नवीन विषय से परिपूर्ण है। इसके पश्चात् गत्यागति नामक चूलिका में दार्शनिक ढंग से बौद्ध दर्शन सम्मत मोक्ष के निराकरण के साथ चारों गति के जीवों की गत्यागतिका भिन्न-भिन्न पहेलुओं से विवेचन किया है। यह भाग कर्म सिद्धान्त के जिज्ञासुओं के लिये बड़े काम का है।

सम्पादन बहुत सुन्दर हुआ है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थ का विषय संक्षेप में दिया गया है। अन्त में कई परिशिष्ट दिये गये हैं, जिनसे इस ग्रन्थ की उपयोगिता अत्यधिक बढ़ गई है। प्रथम परिशिष्ट में क्रमानुसार चूलिका सूत्रों की सूची, दूसरे में अवतरण गाथा सूची तीसरे में न्यायोक्तियाँ, चौथे में ग्रन्थोल्लेख और पाँचवें में अकारादिक्रम से पारिभाषिक शब्द सूची दी गई है। अन्त में विशेष टिप्पण दिये हैं। इन टिप्पणों में तुलनात्मक दृष्टि से विषय का प्रतिपादन किया है तथा कई नवीन प्राकृत-रूपों की छानबीन भी की गई है। इन टिप्पणों में कई मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण बातें भी बतायी गयी हैं। अनुवाद सर्वाङ्ग सुन्दर हुआ है। विषय को सरलता से समझाने के लिये विशेषार्थ दिये गये हैं, इनके सहारे हिन्दी प्रेमी पाठक भी कर्म सिद्धान्त जैसे गहन विषय को आसानी से समझ सकते हैं। हर तरह से मूल ग्रन्थ के विषय को सरलातिसरल बनाने के लिये विद्वान् सम्पादक ने प्रयत्न किया है। छपाई-सफाई और गेटप आदि सभी चीजें मनमोहक हैं। प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी, मन्दिर और पुस्तकालय को अवश्य इसे मंगाकर जैन साहित्य के उद्धार करने में सहायक होना चाहिये।

**अनित्यभावना हिन्दी-पद्यानुवाद और भावार्थ सहित**—रचयिता—श्रीपद्मनन्द्याचार्य; अनुवादक—पं० जुगलकिशोर मुख्तार; प्रकाशक—वीरसेवा मन्दिर सरसावा; पृष्ठसंख्या—८+४०; मूल्य विवेक प्राप्ति।

पुस्तक का विषय नाम से ही स्पष्ट है। इसके द्वारा संसार से उद्विग्न, शोक संतप्त प्राणी शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। प्रायः देखा जाता है कि कर्मबद्ध प्राणी ज़रा-सी विपत्ति के आने पर घबड़ा जाता है और मोह के कारण हाय-तोबा मचाने लगता है। ऐसे समय में इस प्रकार की वैराग्य वर्धक एवं स्वस्वरूप का ज्ञान कराने वाली पुस्तकें अधिक उपयोगी सिद्ध होती हैं। ऐसी पुस्तकों से विपत्ति के दिनों में साहस और उत्साह तो मिलता ही है किन्तु सांसारिक भोग-विलास, स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति, यौवन और प्रभुता आदि की अस्थिरता भी प्रत्यक्ष गोचर हो जाती है। मोही सांसारिक प्राणी को सम्बल प्राप्त कराने में यह पुस्तक अधिक उपादेय है।

इसके श्लोक इतने मनोहर हैं कि पढ़ते ही अनित्यता का चित्र सामने अंकित हो जाता है। नमूने के बतौर एक श्लोक उद्धृत किया जाता है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

एकद्रुमे निशि वसन्ति यथा शकुन्ताः, प्रातः प्रयान्ति सहसा सकलासु दिक्षु । स्थित्वा कुले बत तथाऽन्यकुलानि मृत्वा, लोकाः श्रयन्ति विदुषा खलु शोच्यते कः ।

अर्थ—जिस प्रकार बहुत से पक्षी एक वृक्ष पर आकर रात्रि को बसते हैं और प्रातःकाल सवेरा होते ही सब उठकर दशों दिशाओं को चले जाते हैं । उसी प्रकार बहुत से प्राणी एक कुल में आकर जमा हो जाते हैं, कुछ काल स्थित होकर आगे पीछे मर जाते हैं और अन्य कुलों में आकर जन्म ले लेते हैं । ऐसी वस्तु स्थिति के होते हुए बुधजन तब किसका किस-लिये शोक करें ।

उपर्युक्त पद्य को पढ़ने से मोही से मोही जीव भी शान्ति प्राप्त कर सकता है । अस्तु,

इस पुस्तक का पद्यानुवाद सुप्रसिद्ध साहित्यिक पं० जुगलकिशोर मुख्तार ने किया है । आपकी कलम से निकले पद्य अत्यन्त मनोहर और चित्ताकर्षक हैं । अनुवाद फबता हुआ है । हिन्दी पद्यों के द्वारा संस्कृत नहीं जानने वाले भी कविता का रस ले सकते हैं एवं मूल ग्रन्थ को हिन्दी पद्यों द्वारा भी समझ सकते हैं । सर्व साधारण को भी सरलता से ज्ञान कराने के लिये हिन्दी विस्तृत भावार्थ भी दिया गया है, इससे इसकी उपयोगिता अधिक बढ़ गई है । छपाई-सफाई और गेटप आदि सुन्दर हैं । प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी को इसका प्रतिदिन पाठ करना चाहिये ।

साहित्यरत्न, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ
पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री ।

**स्वामी दयानन्द और वेद**—लेखक—स्वामी कर्मानन्द जी, अम्बाला छावनी, प्रकाशक—श्री अजितकुमार जैन, मंत्री, प्रकाशन विभाग भा० दि० जैन शास्त्रार्थ संघ, अम्बाला छावनी। साइज—डबल क्राउन १६ पेजी, पृष्ठ संख्या—४४, छपाई-सफाई साधारण । मूल्य डेढ़ आना।

पुस्तक के प्रारम्भ में लेखक ने 'मेरी आत्मकथा' शीर्षक प्रकरण में अपने आर्य समाजी जीवन की मनोरंजक कहानी लिखी है । इस प्रकरण से यह पता चलता है कि स्वामीजी आर्यसमाज के एक कट्टर वक्ता होते हुए भी आर्यसमाज के मूल सिद्धान्तों में विश्वास नहीं रखते थे । उन्होंने इसकी पुष्टि में एक स्थान पर स्पष्ट लिखा है कि—'एक तो मुझे मेरे प्रारम्भिक जीवन से ही वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने में शंका थी, दूसरे जब मैंने इस विषय पर आर्य समाज की तरफ से शास्त्रार्थ किये, तब और भी आक्षेप मेरे सामने आये और उनका समाधान न कर सका ।'

लेखक ने आर्य समाज की वेदोत्पत्ति के आधार को अपनी दलीलों से गलत साबित करने की चेष्टा की है । कुछ अंशों में लेखक अपनी चेष्टाओं में सफल भी हुए हैं । जैसे, स्वामी

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

दयानन्द जी महाराज का कथन है कि वेद को स्वयं ईश्वर ने ही बनाया। लेखक ने इसके उत्तर में जो निम्न बातें लिखी हैं वे बहुत ही तर्क पूर्ण और मनन करने योग्य हैं। लेखक का कहना है कि जब ईश्वर वेदों का कर्त्ता है, तो वेद ईश्वर के कर्म हुए; क्योंकि जिसका जो कर्त्ता है वह उसका कर्म होता है।' इसमें ईश्वर के ऊपर दोष आता है। क्योंकि आर्य समाजियों के मतानुसार ईश्वर निर्गुण है, निराकार है, जब ईश्वर निर्गुण है, तो उसके कर्म कैसे साबित होंगे ? और कर्म भी तो तभी किये जाते हैं, जब मन में किसी बात की इच्छा उठती है। आर्य समाजी सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर को न मन है, न इच्छा। ऐसी दशा में वेद, जो आध्यात्मिक, शारीरिक और व्यावहारिक ज्ञानों ( जिसकी तह में इच्छाएँ मौजूद हैं ) की खान हैं, ईश्वर निर्मित कैसे कहे जा सकते हैं ?

इस प्रकार बहुत सी ऐसी बातें हैं, जिन्हें लेखक ने अपनी तर्क की कसौटी पर कस कर निर्मूल साबित कर दिया है। लेखक ने, अपने विचारों की पुष्टि में जितनी दलीलें दी हैं, वे खोज की हैं; और वे अपने इस प्रयत्न के लिये प्रशंसा के पात्र हैं।

**वैदिक ऋषिवाद**—लेखक—स्वामी कर्मानन्दजी, अम्बाला छावनी; प्रकाशक—श्रीअजितकुमार जैन, मंत्री, प्रकाशन विभाग भा० दि० जैन शास्त्रार्थ संघ अम्बाला छावनी, साइज—डबल क्राउन सोलह पेजी। पृष्ठ संख्या—९६; मूल्य—चार आने।

उपर्युक्त पुस्तक में भी लेखक ने वेद का ही प्रसंग छेड़ा है। इसमें भी आर्य समाज के सिद्धांतों के ऊपर आक्षेप किये गये हैं। वेद कब और कहां तथा किसने बनाये, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका जल्द समाधान नहीं हो सकता, यह वास्तव में एक विवादास्पद विषय है। लेखक ने अपनी इस पुस्तक में सिर्फ विवादों का दिग्दर्शन कराया है, और यह साबित करने की चेष्टा की है कि वेद ईश्वर कृत नहीं हैं। कहीं कहीं लेखक की भाषा आक्षेप के जोश में आकर संयतहीन भी हो गयी है। भाषा तथा प्रूफ सम्बन्धी भूलें भी कहीं-कहीं बेहद खटकती हैं। आशा है, दूसरे संस्करण में इन त्रुटियों का सुधार कर दिया जायगा। तौभी यह छोटी-सी पुस्तक सर्वसाधारण के लिये उपयोगी है। इसके द्वारा सत्य मार्ग का अन्वेषण किया जा सकता है। स्वामीजी ने अनेक प्रबल युक्तियों से ईश्वर कर्त्तृत्व का खण्डन किया है। खण्डन शैली रोचक और मनोहर है। छपाई-सफाई साधारण है।

—बनारसी प्रसाद भोजपुरी, हिन्दीरत्न।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

**स्वर्गीय हेमचन्द्र (संस्मरण)**—संग्रहकर्ता और सम्पादक: श्रीयुत यशपाल जैन, बी० ए० एल-एल० बी०, भूमिका-लेखक: पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, प्रकाशक: पं० नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई। मूल्य : चार आँसू। छपाई-सफाई अत्यन्त सुन्दर। पाँच आवश्यक चित्रों से सुसज्जित। पृष्ठ संख्या : १५ + १६०।

भारत के प्रसिद्ध साहित्य-सेवी पं० नाथूराम प्रेमी के एकमात्र दिवंगत पुत्र की स्मृति में हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यिकों की श्रद्धाञ्जलियों का यह संग्रह है। महात्मा भगवानदीनजी, पं० हजारी प्रसादजी द्विवेदी, जैनेन्द्रकुमारजी, प्रो० हीरालाल जैन, श्री रामचन्द्र वर्मा, पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य, पं० पद्मसिंह शर्मा, श्रीपदुमलालजी बख्सी, सियाराम-शरण जी गुप्त, नर्मदाप्रसाद खरे, पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान, एम, एन कुलकर्णी, विश्वंभरदास जी जार्गीय, पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार, श्रीयुत कामता-प्रसादजी जैन प्रभृति ४९ विद्वानों के अश्रु-प्रवाह से यह संग्रह सिक्त है। पं० नाथूराम जी प्रेमी की पंक्तियों को पढ़कर भला कौन पाषाण-हृदय भी चार आँसू न बहा लेगा।

इस संस्मरण का नायक एक अल्हड़, स्पष्टवादी, निर्भीक और बेपरवाह व्यक्ति था। इन पंक्तियों का लेखक पहले से संस्मरणनायक के सम्बन्ध में कुछ भी न जानता है, फिर भी नायक के अल्हड़पन और निरंकुशता पर मन मुग्ध हो जाता है। ऐसे गुण कुछ ही भविष्णु और विजयोन्मुख युवकों में पाये जाते हैं। अपने माँ-बाप के प्यारे तो सभी बच्चे होते हैं, पर यह सरस्वती-पुत्र तो उस विद्वन्मण्डल का प्यारा था, जो साहित्य, समाज और संस्कृति आदि में सत्य के आधार पर नवीनता का उपासक है। यदि स्वर्गीय हेमचन्द्रजी के समान दो चार उद्धत (बोल चाल के अर्थ में नहीं) और चरित्रवान् नवयुवक साहित्य-क्षेत्र में उतर आवें, तब तो चाटुवादिओं, भीरुओं और साहित्य-सेवी के नाम पर चोरों को कहीं शरण न मिले।

हेमचन्द्रजी एक अध्ययन शील आलोचक थे। इनका अध्ययन इतना गम्भीर होता जा रहा था कि कुछ ही दिनों में यह एक अपना विशेष स्थान बना लेते। केवल साहित्य ही नहीं, योग, विज्ञान, चिकित्सा और हस्त-सामुद्रिक आदि कई विषयों के ये मर्मज्ञ हो चले थे। धुन के ऐसे पक्के थे कि जिस विषय में कहीं ठोकर खाते, तो शीघ्र उस विषय की पुस्तकें एकत्र कर महीनों उस विषय में जुट जाते और उसके सम्बन्ध में ग्रन्थ ही लिख डालते। अपने अध्ययन के बल पर बड़े से बड़े लोगों की आलोचना ये कर बैठते थे। अन्तर्राष्ट्रीय वादों और नीतियों का इन्हें पूर्ण ज्ञान ही नहीं था, अपना गम्भीर मत भी रखते थे। संस्मरण के ९० पृष्ठ में उनके विचार-गम्भीर्य का पता चलता है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ज्ञात होता है, हेमचन्द्र जी लिखने की अपेक्षा अभी अध्ययन में अधिक समय बिता रहे थे और उनके जानते वे अभी कुछ लिखने योग्य न थे। अभिभावक के दबाव का शायद यह परिणाम था। हेमचन्द्रजी साधरण संस्कृत के अतिरिक्त अंगरेजी, मराठी, गुजराती और बंगला बढ़िया जानते थे पर उनके अध्ययन का माध्यम अंगरेजी और हिन्दी था। उनकी इतने थोड़े समय में लिखी अप्रकाशित और प्रकाशित ३४ रचनाएँ पुस्तक, निबन्ध आलोचना और अनुवाद आदि हैं। जिनमें 'मंगलमय महावीर, योग-विषयक-लेखमाला, जाति भेद की वैज्ञानिक नींव, साहित्य शिक्षा का अध्ययन, ब्रह्मचर्य दर्शन, जल चिकित्सा, युक्तिवाद के प्रति बगावत, रीति या शैली आदि प्रमुख हैं।

प्रेमी जी उन्हें एक लोकविद् के रूप में देखना चाहते थे, क्योंकि सभी पिता यही चाहते हैं। पुत्र की प्रकृति और महत्ता का ज्ञान पिता को अभी पूर्ण रूप से न हो पाया था। इसी लिये प्रेमी जी उन्हें फटकारते भी थे। उचित भी था, कितना भी बड़ा विद्वान् पुत्र आखिर पुत्र ही था। किन्तु अचानक पुत्र की मृत्यु से पिता को यह लगता है कि वे उसे प्यार न कर सके। आखिर भवितव्यता के आगे वश ही क्या चल सकता है। हेमचन्द्रजी के उत्तराधिकारी उनके दोनों पुत्रों को देख-देख कर अब उन्हें सन्तोष करना है।

अब इस सम्बन्ध में विशेष न लिखकर यही कहूँगा कि स्व० हेमचन्द्रजीकी महत्ता जानने के लिए यह संस्मरणात्मक ग्रन्थ देखना चाहिये। मैं ठीक कहता हूं कि एक अपरिचित होते हुए भी मैं बिना पूरी पुस्तक देखे नहीं छोड़ सका। कारण यह कि हेमचन्द्रजी की प्रकृति, जीवन-गति और चरित आदि ऐसे हैं कि कुछ जान लेने की ही इच्छा होती गयी। दूसरी बात यह कि अनेक सुप्रसिद्ध साहित्यिकों ने संस्मरण लिखा हैं, तो प्रसंगतः विभिन्न साहित्यिक, राजनीतिक और व्यावहारिक ज्ञान चर्चा के समावेश ने इस ग्रन्थ की उपादेयता बढ़ा दी है।

अन्त में विद्वद्वर यशपाल जी तथा प्रेमी से प्रार्थना है कि इस दिवंगत युवक के संस्मरण के समान ही उसकी रचनाओं से जनता को परिचित कराने के लिए उनका एक संकलन सम्पादित और प्रकाशित कर दें।

कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-वेदान्त-साहित्याचार्य,
काव्यतीर्थ, हिन्दीरत्न।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

# THE JAINA ANTIQUARY

VOL. X. JUNE, 1944 No. I

*Edited by*

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Babu Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri Vidyabhushana.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
[ JAINA SIDDHANTA BHAVANA ]
ARRAH, BIHAR, INDIA.

*Annual Subscription*

Inland Rs. 3. Foreign 4*s.* 8*d.* Single Copy Rs. 2

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

# CONTENTS


| | | Pages. |
|---|---|---|
| 1. | The Nativity Scene on o Jaina Relief From Mathura—By Dr. V. S. Agrawala M. A. Ph. D., Curator, Provincial Museum Lucknow ... ... ... ... | 1 |
| 2. | The contribution of Jainism to World Culture—By A. Chakrovarti ... ... ... ... | 5 |
| 3. | Vaisali, Mahaviras Birth Place—By Dr. B, C. Law, Ph. D., D. Litt, M. A., B. L. F. R. A. S. B. ... ... | 16 |
| 4. | The Jaina Chronology—By Kamta Prasad Jain, LL, D., M. R. A. S. ... ... ... ... | 19 |
| 5. | Krsna Legnd in the Jain Canonical Literature Part I—By Mr. M. N. Desh Pande B. A. ... ... | 25 |
| 6. | The Metaphysics and Ethies of Jainas—By H. Jacobi ... | 32 |


Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Om

# The JAINA ANTIQUARY

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"
[ अकलंकदेव ]

Vol. X
No. 1

ARRAH (INDIA)

June,
1944

## THE NATIVITY SCENE ON A JAINA RELIEF FROM MATHURA.

*By*

Dr. V. S. Agrawala, M. A., Ph. D., Curator, Provincial Museum, Lucknow.

The Jaina collection in the Lucknow Museum originally brought from the Kankâlî Tîlâ of Mathurâ is distinguished by a number of sculptures of high artistic quality including some pieces which are important for iconography and for the early history of the Jaina religion itself. The sculpture discussed here merits attention, as from a stylistic point of view it is quite an early figure assignable to about 1st century B. C.. and secondly, because it portrays a religious scene which may have something to do with the life of Tirthaṅkara Mahāvīra. The nude standing figure in the crowd of persons filling the proper right half of the scene leaves little room for doubt about the Jaina character of the representation.

The relief consisted of a running frieze of which only the central scene is now preserved. Originally used as a piece for horizontal position, the stone was later on remade into an upright railing pillar with a mortice hole which is partly preserved on the right side. This hole has been rather fatal to the most important figure of the whole story which is almost cut away by it.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

The scene on the left side consists of a dance festival celebrated with music. It should be connected with some event or occasion justifying a festive display of human feelings. The structure under which the dance scene is laid is an open Maṇḍapa supported on four columns having plain circular shafts and capitals with two volutes each. The gabled roof is apparently covered with tiles on the outside. It was supported on a high central beam from which its two divisions sloped and rested on the columns. The roof is held on a frame work of triple lengthwise beams and shorter rafters placed crosswise, which is even today the prevailing arrangement for supporting tiled roofs on a framework of *ballis*. The structure was apparently in wood except the tiles which may have been of fired clay.

Inside the Maṇḍapa is a dancing female figure shown in an attractive pose. On her right is a squatting male figure beating a gong with a small rod. On her left is another seated male figure playing on a pair of drums, the one in horizontal position placed in his lap was technically known as *Aṅkya*(अंक्य), and the other placed vertically in front of him was given the name of *Ūrdhva* (ऊर्ध्व). Both the male figures wear typically heavy turbans with a central knob above the forehead. There are on this side also some standing female figures one of which is in the act of beating time with the palms of her hands and was known as *pāṇi-vādikā* or *pāṇighnī*. The other two female figures apparently very attentive participate in the general atmosphere of the scene, but not by any visible performance. Outside the Maṇḍapa on this side on the left of the fourth pillar commenced another scence of which only a mutilated male figure is now left.

The proper right side of the composition beginning from the first pillar consists of two rows of human figures. About two-thirds of them are connected as witnesses of the dancing scene and the rest on the extreme end form an independent part of the story. Of the visitors the first one sitting by the side of the pillar seems to be the leader of the group being more conspicuously treated and wearing a prominent head turban. He must represent either a rich *Śreshṭhī* or a royal personage. The man squatting next to him is seated in the

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

manner of Pramathas, has a scarf tied round the waist which passes on the outside of left folded leg. His hair is flowing on shoulders. His queer look perhaps shows him to be a light character. The third figure is standing and is of secondary rank, his left hand being placed on the right shoulder of the middle figure. In the upper row are four male figures who appear to form part of the retinue and are witnessing the festive scene in front of them.

The scene in the extreme right end was vital to the whole composition but has very badly suffered. In it there is a male figure at the top of whom only the bust remains. It is shown in adoration apparently offering homage to the figure carved below it. On the proper left of the scene is a nude young figure holding a kamaṇḍalu in the left hand and a piece of cloth in the right of which the ends fall below. This figure is a little in profile and although its head is now lost, it paid attention to the figure seated on his right. Unfortunately the main figure is extremely fragmentary of which only the right leg in an oblique suspended position and a part of the drapery is preserved. It appears that it was a male figure seated in *lalitāsana* with the left leg suspended and the right one folded. The figure was intended to be one worthy of homage as is made apparent by the adoring figure at the top; that it had something to do with Jainism is warranted by the nude boyish figure shown in front.

The correct identification of the scene is not beyond doubt but has every likelihood of referring itself to the story of the birth, of the Tirthaṁkara Mahāvīra. The seated figure of whom only the left leg is preserved appears to have been seated in an attitude similar to that of the god Hari-Naigamesha preserved in the Lucknow Museum on relief No. J. 626 (Smith's *Jaina Stūpa*, Plate XVIII). In that also the figure of a nude young boy is shown in the foreground. The Mother and the Child occurring in the Hari-Naigamesha scene connect it definitely with the Nativity of Mahāvīra depicting the transference of the child from the embryo of the Brāhmaṇī Devananda to the body of the Kshatriyāṇī Triśalā effected by the god Harinaigamesha. The present scene is earlier in date by about a couple of centuries, and obviously represents the birth celebration of the same Tirthaṁkara.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

In this connection we may also notice the well-known Āryavatī sculpture of the time of Mahākshatrapa Śoḍāsa (Smith's *Jaina Stūpa*, Pl XIV). The figure of Āryavatī is shown standing in *abhayamudrā* with two attendant female figures holding a royal parasol (*chattra*) and the fly-whisk (*chaunri*). The existence of a goddess of the name of Āryavatī is unknown to the Jaina pantheon. It seems that the titte signifies "The Venerable Lady" and it would be most appropriate to designate the royal lady Triśalā, mother of Mahāvirā as Āryavatī. The Nativity idea must have been a popular one amongst the Jainas as it was amongst the Buddhists of Mathura, both of whom appear to have worked on a common pattern on the evolution of their iconographic formulas. This sculpture showing dance and music at the birth of the saint is in conformity with the art tradition as seen at Bharhut. We may compare with it the famous Sammada scene ushering in the birth of the Buddha (See, Barua, *Bharhut*, B. K. I., Pl. 2, B. K. III, Fig 34). Pāṇini also calls festive celebrations by the name of Sammada in sūtra III. 3-68 ( संमदप्रमदौ हर्षे ). The representation of the Nativity scene on the famous Hari-Naigameshi relief belongs to the Kushāṇa period, i. e. about 1st century A D. by which time the old formula had rather become more direct and shorn of its crowded material. But the present sculpture belongs the Śuṇga period and is worthy of greater attention, as an evidence of the early development of the idea of Nativity represented in Jaina art.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

# THE CONTRIBUTION OF JAINISM TO WORLD CULTURE.

A. Chakravarti.

(*Continued from Vol. IX No. II, Page 67.*)

---

This multiple aspect of reality with its relations with one another has its own philosophical corollary of religious importance. The concept of Nirguṇa Brahmma is logically considered as meaningless by Jaina philosophers because according to them there can be no reality without quality, there can be no Dravya without Guṇas. Guṇa or quality without an underlying substance would be unreal because it would be unsupported. Similarly substance or Dravya without qualities or Guṇas would be unreal because of its being an empty abstraction from its qualities. You may talk of qualities as distinct from Dravyas for purposes of philosophical discussion. But in reality there can be no subsistence without qualities and no qualities without subsistence. So the highest religious concept instead of being the Nirguṇa Brahman of the Vedāntin becomes a Paramātman with infinite qualities according to Jainism. To attain this goal of Paramatmasvarūpa with the infinite qualities is the ideal set up by Jainism.

---

## SYĀDVĀDA.

The logical predication relating to any object of reality, since it is bound to take a particular aspect of the same, must be in the form of a partial predication, You cannot assert anything about reality as an absolute predication. Any assertion made about realily therefore must be limited to the relative point of view. If the point of view is an emphasis on the nature of the underlying substance, the predication will be of one form; if the point of view is to emphasise the change, the form of predication will be different altogether. That the relative point of view determines the nature of predication is an obvious fact in logical assertion. Even in the ordinary world the value of a thing depends upon its relation to the point of view

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

adopted by a person. Thus for example a plant may be merely a weed to be rooted out from the point of view of the gardener or the agriculturist; but the same plant may be, beeause of its medicinal value, an important herb according to the doctor. The same plant may be of scientific value to the botanist because of its unique structure and function in the botanical world. To a poet it may be an entirely different thing and have a different significance as a symbol of Beauty and Truth and inspire the poet to exclaim "Thou flower in the crannied wall, if I could know thee, root and all, I could know what God and man is." Thus it is quite clear that logical predication is determined by the relative point of view. If you emphasise the substance, for example, of an ornament made of gold you say it is made of gold and not of silver or brass. If the question is 'what is substance of which the ornament is made?' the necessary answer will be it, is made of gold. If the question is, is it made of silver or brass?, the answer is negative—No, it is not made of silver or brass. Thus the same object, the same ornament is capable of being described by an affirmative predication as well as a negative predication according to the point of view adopted. This doctrine af partial predication according to which both affirmation and negation are possible with reference to the same object or reality is technically expressed as Syādvāda or Astināstivāda of Jaina philosophy. This is such a simple obvious truth and yet it is extremely surprising that it is misunderstood by almost all the non-Jaina thinkers who condemn it as self-contradictory and untrue.

---

## JAINISM AND MODERN SCIENCE.

The view of Jaina thought will be better appreciated, if we can examine Jaina philosophy from the point of view of modern science. It is not possible for us in this short review to give a fuller account of the scientific aspect of the Jaina philosophy. However we can mention a few prominent doctrines which clearly appear to be an anticipation of modern scientific thought. In the physical realm Jaina philosaphy postulates five distinct categories as constituent elements for

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

the building up of the cosmos···Jīva, Pudgala, Dharma, Adharma and Ākāśa which may be translated respectively as life, matter, the principle of motion (Dharma), the principle of rest (Adharma) and space. The first, the second, and, the last are obvious; but the two categories Dharma and Adharma are technical and peculiar to Jaina thought. These are not to be confused with the ethical concepts of merit and demerit. They are entirely physical concepts, which are credited with powers of holding together the infinite quantity of physical molecules in the form of orderly constituted cosmos. If these categories are not postulated there will be no structure of the world maintained. Material atoms constituting the world will get dissipated throughout the infinite space. There will be merely a chaotic mass of cosmic dust with no world or life. From this description, it is evident that the early Jaina thinkers postulated two physical categories Dharma and Adharma for the purpose of explaining the physical structure of the universe. One other physical concept worth mentioning here is the Jaina account of sound. All other Indian systems of thought spoke of sound as a quality of space. But it is interesting to know that Jainism explains sound in relation with material particles as a result of concussion of atmospheric mollcules. To prove this thesis the Jaina thinker employs arguments which are generally found in text books of physics :

That there is no sound if the atmosphere is removed, that it takes time to travel, that it is reflected in the form of an echo by the obstructive barrier are all facts known to ancient Jaina thinkers. Turning to Biology, Jaina thinkers were acquainted with many important truths relating to this branch of knowledge. The biological concepts found in Jaina thought are unique and interesting. The classification of the biological kingdom into diflerent groups according to the sense organs is an important point to be noted. This classification is based upon the number of sense organs present in the organisms. It is recognised that the plant world is also a living kingdom. Plant life is described as life with one sense organ namely touch alone. Next higher to that comes organism with two senses, touch and taste. Above that is the organism with the three senses, touch, taste and smell. Then comes the class of organisms with four senses, touch, taste, smell and sight. Next to that is the class

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

of five senses organisms having the sense of hearing in addition to the other four. The highest class of organisms consists of five senses of organisms with the additional characteristic of manas which is also a form of indriya. The last would represent human beings. Thus we have the gradation of the animal kingdom from the lowest organisms to the highest, Man figuring as the lord of the organic world This biological classification of animals is peculiar to Jaina philosophy, and it is nowhere found in Indian thought. We may further add that the doctrine that the vegetable kingdom consists of living organisms and that it is a part of the biological world is also peculiar to Jaina thought. We may assert with certainty that wherever this Jaina concept of life is introduced the author of the work must be a Jaina in faith for the simple reason that it is found nowhere outside Jainism as previously mentioned.

Here it is interesting to note that the existence of microscopic organisms were also known to Jaina thinkers. Microscopic organisms, technically called Sūkshma Ekendriya Jīvas or minute organisms with the sense of touch alone, are assumed to exist all over the world. They may abide in the earth, air, water and so on; and according to their abode they are classified as the microscopic organisms living in earth, air or water. These microscopic organisms are not preceptible to the ordinary senses though their existence is known by their function and activity. The doctrine of Ahiṁsā implies non-injury to these microscopic organisms also, but the injuction not to injure these is binding only on the ascetics or the yatis, because a householder cannot carry out strictly the doctrine of a higher Ahiṁsā with reference to these micrcsoopic organisms.

Next we shall consider the psychological conccpts of Jainism. Without entering into details we may mention here the classification of knowledge and the knowing process recognised by Jaina thinkers. The knowing processes are divided into five distinct stages. Beside the ordinary sense-perception and the knōwledge through books Jaina thinkers recognise three other proeesses of cognition. The two former are called Mati-jñāna and Śruta-jñāna, knowledge by sense perception and knowledge hy study of books. The latter three are called Avadhi-jñāna, the Manahparyāya-jñāna and Kevala-jñāna.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Avadhi knowledge implies a sort of clairvoyant perception of distant objects and events. This is distinctly an extra-perceptual cognition in as much as it is not obtained through sense perception. In recent psychic researches, psychologists have been able to discover this clairvoyant capacity present in latent form in every human being Given proper facility this extra-perceptual cognition may be developed in all persons. Similarly the fourth variety, namely, Manaḥparyāya knowledge implies the capacity to appreciate what takes place in another person's mind This is called telepathy in modern Psychology. The existence of telepathic cognition is also recognised by students of scientific research. These extra-perceptual activities of the mind were evidently developed by Yogic practices in ancient India, and the Jaina thinkers seem to have made a special study of these. The last is called Kevala knowledge on account of its excellence. This is infinite in its nature and comprehension and includes the whole of knowable reality; and it is associated with a Sarvajña or one who has obtained omniscience after destroying Karmas through Yoga or Tapas. Every individual human being, when he gets rid of all his Karmic bondage through elaborate process of discipline of Tapas or Yoga, is capable of attaining this stage of all-knowing state or Kevalajñāna which is the intrinsic characteristic of Paramātman. This process of self-realisation or attaining to the true self-hood with infinite knowledge is the goal of life prescribed by Jainism. This is Moksha, and the Jaina religious doctrines prescribed for reaching this stage constitute Moksha-mārga. From this point of view every living being has in itself in a latent from or in germ this Parāmātma-Svarupa and every individual has a right and the possibility of attaining the goal. Each individual personality by its own effort is capable of extricating itself from the trammels of Karma and attain this state of reality of supreme self. Each individual personality is according to Jainism an architect of its own destiny

Let us look at the Jaina contribution to Art. Fine arts are of different kinds: architecture, sculpture, painting, music and poetry. In all these different forms we have contributions made by early Jaina leaders and thinkers. In fact, in ancient India, architecture and

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

sculpture may be said to have been inspired by Jaina thinkers. Vedic Hinduism does not contemplate anything like temple worship. Its religious paraphernalia was confined to Yāgaśālā and the field of animal sacrifice. Jains have emphasised the importance of Chaitya and Chaityālaya-idol representing the Tīrthaṅkaras and the temples for these idols as objects of worship. Besides the five objects of worship Pañchaparameshṭhis, Jain thinkers speak of four other objects namely, Jina Dharma, Jina Śrutha, Jina Chaitya and Jina Chaityālaya the latter two being idols and the place for idols. Building temples dedicated to different Tīrthaṅkaras whose Pratibimba or idol was established therein must have started with Jaina conception of Samavasaraṇa Aceording to Jaina tradition every Tīrthaṅkara after attaining Kevalajñāna has to spend the rest of his period in Dharma-prabhāvanā, preaching the Dharma when he is provided with an edifice called Śamavasaraṇa constructed by Devendra, a hall for the congregation assembled therein to listen to the divine words of wisdom The description of a Samavasaraṇa is generally given in Jaina literature It will not be far wrong to suppose that this concept of Samavasaraṇa is the source of inspiration for building up Chaityālayas or temples - a duty imposed upon Jaina kings and noble men. In early india, even in the historical period, most of the ruling chiefs, both in the north and south of India, were followers of Jaina faith, and they must have started temple building, From Chandragupta Maurya in the north to the Pallava and Pāṇḍya kings in the south each vied with one another in putting up Chaityālayas dedicated to Jinas. Buddhism also must have had some such architectural scheme when Bhuddist builders specialised in putting up Stūpas over the relics of Goutama Buddha. Temple architecture as such was not encouraged by Buddhist builders Medievial India of Purāṇic Hinduism must have taken up the clue from the Jaina builders and constructed their own buildings, but very often converted most of the Jaina temples to serve their purpose.

This process of temple building not only implies skill in architecturc but also necessarily implies a taste for the art of sculpture. Individual figures or idols designed and executed by Jaina sculptors even now remain as wonders of Indian sculptural art Wherever possible they employed painting as a source of instruction and propaganda of the

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Jaina doctrine. Cave paintings which are even now existing such as Ajenta Frescoes are to a very great extent due to the inspiration of the Jaina artists. They were also patrons of music. The description of Samavasaraṇa *contains* a *description* of how Indra with his retinue of Devas appear before Jina with music and dancing. Devanartanā and the Deva-dundubhi are associated with the glory of Samavasaraṇa. Naturally therefore the temple worship according to Jainas must be a copy of this worship of the Jina by the Devas. Hence they encouraged music to a very great extent. It is enough to mention here one important fact as evidence of this. In Hindu epics and Purāṇas whereever there is a description of suayaṁvara, we always have victory in the Svayaṁvara-maṇḍapa achieved merely by physical prowess of breaking a bow or hitting a mark with an arrow to gain the hand of the princess. But in the case of Jīvaka winning the hand of Gandharvadatta as narrated in Jīvakachintāmaṇi we have the story laid in Svayaṁvara-maṇḍapa for a musical contest in which Jīvaka wins the hand of the Vidyādhara princess. Hence it is a point worthy of note that though Jainism seems to emphasise the ascetic aspect to a very great extent, it has not altogether forgotten the aesthetic aspect of life. Musical information given in the Tamil classic Śilappadigāraṁ, a Jaina kāvya, still contains a mine of information relating to the art of music. It has not been fully understood and appreciated by Tamil scholars. And lastly we have the art of poetry. It is in this that Jaina scholars have excelled all the rest. Their contribution to literature in different languages is the pride of India. Their contribution to Sanskrit literature, their contribution to Prākrit literature are practically unrivalled. Jaina ascetics made it a point to study the language of the people for the purpose of educating them. Thus wherever they settled they enriched the literature of the land by their own contributions in the language of the land. The earliest Tamil works were most of them associated with Jaina writers. Not only the majority of the Kāvyas such as Chintāmaṇi, Śilappadigāraṁ and Vaḷayāpadi owe their existence to the Jaina writers but grammatical works such as Tolkappiyaṁ Nannūl and Yāpparuṅgalam and moral treatices as Kuraḷ and Nāladiyār all owed their existence to Jaina writers. But for the Jaina writers there would have been no Tamil literature worth

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

mentioning in South India. The same is the case with Kannaḍa litererature. The early works in Kannaḍa literature were all by Jaina writers. The literature in different languages thus contributed by the early Jainas served as a model for the later literature contributed by the non-Jaina writers.

The cheif Ethical aspect of Jainism the Ahiṁsā Dharma, forms the foundation of moral life for a Jaina. Rules are prescribed according to this fundamental principles. Jaina thinkers have formulated different types of moral injunctions one intended for the householder and the other intended for the ascetic. The latter is more strict and rigorous than the former. The former is called Śrāvakāchāra, the course of conduct prescribed for the householder. The latter is called Yatyāchāra, the course of conduct prescribed for the Yati or the ascetics. The course of conduct which is based on the basic principle of Ahiṁsā prescribed by Jainism consists of five Vratas :—Ahiṁsa, Satya, Asteya, Bhahmacharya and Parimitaparigraha. Ahiṁsā implies not merely non-injury to any insect but also the positive characteristic of love and sympathy towards all living creatures. The next vow is Satya or truth. This truth-speaking also is to be derived from the doctrine of Ahiṁsā which implies love and sympathy to all living creatures. As the term Asteye literally means non-stealing or non-acquiring any object belonging to others which are not voluntarily given to you. Brahmacharya as far as the householder is concerned means family life confined to the enjoyment of one's own wife and avoiding all types of sex-transgressions. The last item is limiting one's own personal possessions in the world. Acquiring of property in the form of land, cattle, gold or silver is the process of acquiring personal possessions. All these come under the class of Parigraha and the householder is enjoined to limit his personal possessions according to one's own status. Anything acquired beyond this limit must not be considered as one's own, must be used for the welfare and betterment of society as a whole. This last item has got an important economic significance for the modern world, as may be presently noticed. The same five vows or Pañchavratas when applied to the Yatis or the ascetics are called Pañcha Mahavratas, the five great vows as con-

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

trasted with the Pañcha Anuvratas, the five smaller vows which are related to the householder, Each of these Pañcha Mahāvratas is applied to the Yati without any limitation—a limitation which is imposed upon the householder as an economic unit of producer. For example the Brahmacharya which excludes sex perversity in the householder though it does not exclude sex life with one's own wife would be applied absolutely in the case of the Yati who must observe complete sex abstinance as an ascetic. Similarly in the case of the last vow of Parigrahaparimāṇa when the householder has to limit his personal possessions to suit his stātus the Jaina ascetic must have nothing as his own. He cannot even acquire a piece of cloth to cover his nakedness. He is to adopt the Jāta-rūpa, the form in which he wss born. Complete abstinance from personal possessions and undisturbed concentration upon one's own self would imply that one's own body itself is important only as a means of concentration, Yoga, to attain self-realisation. Otherwise even the body becomes superfluous, insignificant and useless. The Jaina ascetic has no home of his own. He is called Anagāra, the houseless. Whole living kingdom constitutes his family, the whole earth with the stars-spangled canopy of the heavens would constitute his home. This rigorous discipline imposed upon Jaina ascetic is very often mistaken by the non-Jaina students as characteristics of all Jainas because they are not aware of the twofold organisation of Jaina society the majority of which are the householders and a few ascetics, who devoted their life and energy for the cultural and moral betterment of the society.

In conclusion it is worth noticing the importance of the first and the last of the vratas for the modern world. The doctrine of Ahiṁsā which, though found in Hinduism, is peculiar to Jainism. Though it is adopted by the Hinduism it has not been fully appreciated by the Hindu thinkers. They try to reconcile with this their doctrine of Yāga or animal sacrifice and very ofen made a conflicting mixture of both as a Hindu religious doctrine. Its full implication has not been appreciated; and very often it is criticised as the cause of the political downfall of modern India, because it is assumed to be the weapon of the weak and helpless. It is assumed to be the mark of cowards, Those critics who talk in this strain are

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ignorant of Indian history as well as of the significance of the doctrine of Ahiṁsā. The glorious periods of Indian history, the periods of Chandragupta and Aśoka of the Mauryan dynasty, the emperor Khāravela who came after him, the Chālukyas and the Pallavas in the Deccan and the Cheras and Cholas and Pandyas of the South till the period of Hindu revivalism had all been followers of Jaina faith based on the doctrine of Ahiṁsā, but they were able to build up empires which had been the pride and glory of India and with which the foreign kings from the West and the East sought friendly alliance. Historically therefore the great periods of Indian history were all associated with the doctrine of Ahiṁsā. But political decline may be said to have begun with the Hindu revivalism which undermined the early Indian empires built by the Jaina sovereigns and which stood for social democracy. Intrinsically the doctrine of Ahiṁsā instead of being the mark of cowardice appears to be the quality of the courageous victor. It requires a greater strength of self to face injury than to inflict it. This was the attitude of Christ on the Cross; when he was insulted by Roman soldiers, he merely cried *'Father they know not what they do. Forgive them'*. Similarly whenever a Jaina saint is subjected to all sorts of persecutions by enemies, never swerved from the path of contemplation but merely smiled in pity for the folly of the ignorant enemy who by injuring the monk injured himself by walking the path of spiritual damnation. Smiling at the enemy in spite of persecution is a mark of superman, the victor, who walks on the path leading to the conquest of self. No doubt this doctrine is chosen as a method of liberating modern India to its full status of freedom and liberty by one of the greatest leaders of modern India. This experiment for the betterment of social conditions in India is not confined to India, its possibilities may have world wide value and may be applicable to the whole world. The so-called Western civilisation based upon national aggrandisement and consequently generating national animosity cannot preserve itself unless it accepts this fundamental doctrine of Ahiṁsā as international ideal of live and let live. Not only this doctrine of Ahiṁsā is intended to be a panacea for the world ills but also the last doctrine of Parimita Parigraha is necessary for the economic reconstruction of the world.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

The Russian experiment of communism, a form of economic levelling down the institutions of property is opposed to the existing system of capitalistic economics. As a compromise between these two economic institutions we must have a process of social reconstruction leading to voluntary limitation of personal property and setting apart the surplus for the betterment of general society as a whole. The social and economic reconstruction of the world must therefore adapt itself to important principle of Jaina ethics, the doctrine of Ahimsā and the voluntary limitation of personal property for in that way lies the Harmony among nations, as well as peace in this world.

---

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

# VAIŚĀLĪ, MAHĀVĪRA'S BIRTH PLACE.

*By*

Dr. B.C. Law, Ph. D., D. Litt., M.A., B.L., F.R.A.S.B.

Vaiśālī is famous in Indian history as the capital of the Licchavi Rājās and the headquarters of the powerful Vajjian confederacy. It is intimately associated with the early history of Jainism and Buddhism.

This great city claims Mahāvīra the founder of Jainism as its citizen. He has been described in a cannonical Jaina text[1] as the Arahat Jñātriputra, the revered, the famous inhabitant of Vaiśālī, who possessed the highest knowledge and the highest faith. He was known as Vesālie or Vaiśālika, that is, an inhabitant of Vaiśālī[2]. Abhayadeva in his commentary on the Bhagavati Sūtra (2, 1, 12, 2) explained Vaiśālika by Mahavīra and speaks of Viśālā as Mahāvīra-jananī or the mother of Mahāvīra[3]. From a comparison of the Buddhist and Jaina scriptures it appears that Kuṇḍagrāma, the birth place of Mahāvīra was a suburb of Vaiśālī[4]. Mahāvīrā's mother Triśalā was a sister of Ceṭaka who was one of the Vaiśālī Rajās. During his latter ascetic life Mahāvīra did not neglect the city of his birth and out of the fortytwo rainy seasons he spent no less than twelve at Vaisālī[5].

Vaiśālī, the capital of the Licchavis, has been identified with the present village of Basarh in the Muzafferpur district of north Bihar. The identity of Vaiśālī with Basarh has been proved still more decisively by the Archaeological explorations carried out on the site by T. Bloch in 1903—4.

Before the advent of Mahāvīra the faith of which he was the last exponent seems to have been prevalent in Vaiśālī and the surroun-

1. *Sūtrakritāṅga*, 1, 2, 3, 22.
2. Jacobi, *Jaina Sūtras*, pt. I, Into, xi.
3. Weber, *Indische Studien*, Band XVI., 263.
4. Jacobi, *Jaina sūtras*, SBE, Vol. XXII, pp. x—xi.
5. Jacobi, *Kalpa sūtru*, paragraph 122.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ding country in some earlier form. It appears from the Jain accounts that the religion as fixed and established by Pārśvanātha was followed by some at least of the Kṣatriya peoples of North-eastern India specially amongst the residents of Vaiśālī. We learn from the Āyārāṅga Sūtra that Mahāvīra's parents were worshippers of Pārśva and followers of the Śramaṇas[1]. Similar accounts are given in other Jain works of the prevalence in the country of a faith which was afterwards developed by Mahāvīra. Śramaṇas or wandering ascetics had been in existence ever since the time of the earlier Upaniṣads and evidently the Śramaṇas that were followed by the parents of Mahāvīra belonged to one of the numerous sects or classes of Indian ascetics. After Mahāvīra's time, the number of his followers among the Licchavis appears to have been large even including some men of the highest position in Vaiśālī, as for examples, Siha[2], a general-in-chief of the Licchavis, who was the disciple of Mahāvīra and Saccaka[3], a Niganṭha who had the hardihood to challenge the Buddha himself to a discussion on philosophical tenets before an assembly of five hundred Licchavis.

The Licchavis of Vaiśālī who were a great and powerful people of India in the Sixth country B. C. were Kṣatriyas of the Vāśiṣṭha gotra[4]. The Jaina sacred works tell us that Kṣatriyānī Triśalā mother of Mahāvīra and sister of Ceṭaka, one of the kings of Vāiśālī, belonged to the same gotra[5]. The Licchavis did great honour to the memory of Mahāvīra as we read in the Kalpa Sūtra. In that night in which the venerable ascetic Mahāvīra died, the nine Licchavis along with others on the day of new moon instituted an illumination on the Poshadha which was a fasting day[6]. The Jain works tell us that these nine Licchavis were tributary to Ceṭaka, king of Vaiśālī and maternal uncle of Mahāvīra[7], who was a Jñātri kṣatriya of the Kāśyapa gotra.

1. *Jaina sūtras*, pt. I, SBE, vol. XXII, p. 194.
2. *Vinayatexts*, SBE. vol. XVII, pp. 108*f Vinaya Mahāvagga.*
3. *Majjhima Nikāya*, I, pp. 227—37.
4. *Mahāvastu, Senart*, I, p. 283.
5. *S. B. E.*, Vol. XXII, p. xii; Jacobi, *Jaina Sūtras*, Vol. XXII, p. 193; *Āyārāṅga Sūtra*, 11, 15, 15.
6. *Kalpo Sūtra*, paragraph, 128.
7. *S.B.E.*, Vol. XXII, p. 266, note 1.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Mahāvīra, the son of Kṣatriya Siddhārtha who was otherwise known as Śreyāṃsa and Yasaṃsa who figured as a supremely gifted kṣatriya teacher and leader of thought, a great Brāhmaṇa, a great guardian, a great guide, a great teacher, a great pilot, and a great recluse, gathered unto him many men and women and was honoured and worshipped by many hundreds and thousands of lay disciples. Some among whom were Licchavis of Vaiśālī who had their peculiar form of government, their free institutions, their manners and customs, their religious views and practices which afford us glimpses of India of the transition period when the ancient vedic culture was developing in new directions and undergoing a transformation under the influence of the speculative activity out of which emerged the two great religions of Jainism and Buddhism. Mahāvīra was undoubtedly a great Vaiśālian who lived thirty years as a householder, more than full twelve years in a state inferior to perfection, something less than thirty years as a *Kevalin*, forty-two years as a recluse, and seventy-two years on the whole. At the age of seventy-two he died freed from all pains in the town of Pāvā after a long and remarkable career as a great religious reformer.

---

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

# The Jaina Chronology.

By Kamta Prasad Jain, LL. D., M. R. A. S.

( *Continued from Vol. VIII, No. I, page* 35. )

## EVENTS OF THE ANCIENT HISTORICAL PERIOD

| No. | Period & Date. | Events. |
|---|---|---|
| 91 | 307 B. C. | According to Kharatara Gachha Paṭṭāvalī Sthûlabhadra dies and Ārya Mahāgiri succeeds him. |
| 92 | 308 B C. | Ārya Suhastin is created a sûri. (*Ibid.*) |
| 93 | 305 B. C. | Seleukas Nikator, King of Syria, led an expedition against Chandragupta, but a treaty was made. Seleukos gave his daughter Helen in marriage to the Indian liberator. (SJI. li, i, p. 225). |
| 94 | 300 B. C. or 297 B. C. | Bindusāra Maurya succeeds his father Chandragupta. The Greeks called him by the name 'Amitrochates', i.e. Amitraghātā, which shows that he was a great warrior. Daimachos was sent to him as ambassador by Antikhos and Dionysios. (EHI., p. 126 JRAS, 1928, I, pp. 132—135). |
| 95 | 282 (245) B. C. | Arya Mahāgiri dies. Suhastin succeeds him as the head of the Śvetambara Jaina Saṃgha. (Jacobi, Kalpasūtra, Intro. 10) |

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

| No | Period & Date | Events. |
|---|---|---|
| 96 | 273 B. C. | Aśoka Maurya ascends to the throne of Magadha. After the conquest of Kalinga Aśoka became a humanitarian and set himself to preach the creed of Ahimsā, which was based on the teachings of Buddha and Mahāvīra. (JA. V 54 ff.) |
| 97 | 236 B. C. | Kuṇāla Maurya succeeds Aśoka, who was followed by Samprati, the grandson of Aśoka. Samprati was converted to Jainism and he sent Jain Śramaṇas to the countries of Arabia and Persia. (SJI. II, i. pp. 294—295 and JBORS., I. p. 116). |
| 98 | | Śālisûka Maurya, the younger brother of Samprati, achieved the conquest of Jainism throughout Saurāṣṭra and enhanced the glory of the religiousness of his elder brother Samprati, amongst the various sections of the Jaina community. As a result, the Saṃgha of naked Jain saints gains prominence. (JBORS., XVI. pp. 29—31). |
| 99 | 225 B. C. | Chedi Kings of Kalinga flourished. |
| 100 | 207 B. C. | King Khāravela of Kalinga was born. |
| 101 | 192 B. C. | King Khāravela was proclaimed Crown Prince of Kalinga. |
| 102 | 184 B. C. | Viśākhāchārya and ten other Daśapûrvadhārî âchāryas flourished in the Digambara Saṃgha since the death of Bhadrabāhu |

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

| No. | Period & Date. | Events. |
|---|---|---|
| | | Śrutakevalin. In the Nandi-āmnāya Paṭṭāvalî their names and respective period of pontiff-ship is given in the following manner :— |
| | | 1. Viśākhāchārya Daśapûrvî, 10 years |
| | | 2. Proṣṭhila ,, 19 ,, |
| | | 3. Kṣatriya ,, 17 ,, |
| | | 4. Jayasena ,, 21 ,, |
| | | 5. Nāgasena ,, 18 ,, |
| | | 6. Siddhārtha ,, 17 ,, |
| | | 7. Dhratiṣeṇa ,, 18 ,, |
| | | 8. Vijaya ,, 13 ,, |
| | | 9. Buddhilinga ,, 20 ,, |
| | | 10. Deva ,, 14 ,, |
| | | 11. Dharmasena ,, 14 ,, |
| | | (Dhavalā, Intro : p. 26). |
| 103 | 183 B. C. | King Khāravela ascends to the Imperial thrown of Kalinga. |
| | | ( JBORS. XIII, 244—245) |
| 104 | 182 B. C. | Khāravela attacked Sātavāhana king Śātikarṇi in order to help the Kāśyapa Kṣatriyas and occupied the territory of the Muṣikas. |
| | | (*Ibid.*) |
| 105 | 179 B. C. | Khāravela conquered the Rāṣṭrikas and the Bhojakas. |
| | | (*Ibid.*) |
| 106 | 177 B. C. | Khāravela's mahārājābhiseka ceremony was performed and he proclaimed himself as King Emperor. |
| | | (*Ibid.*) |

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

| No. | Period & Date. | Events. |
|---|---|---|
| 107 | 176 B. C. | Probably the crown Prince of Kalinga, to succeed Khāravela was born (*Ibid.*) |
| 108 | 175 B. C. | Battle of Gorathagiri was fought. Demetrius withdrew from Mathurā hearing about the invasion of Khāravela on Upper India. (*Ibid*) |
| 109 | 173 B. C. | Khāravela invaded the Uttrāpatha. |
| 110 | 172 B. C. | Khāravela celebrated reformed Jaina Pûjā. |
| 111 | 171 B. C. | Khāravela defeated Puṣyamitra of Magadha and brought back the image of Kalinga Jina to his capital. |
| 112 | 170 B. C. | Khāravela observes Jain penances snd austerities on the Kumārî hill. He calls together the Jaina Saṃgha and endeavours to restore the lost Jaina canons. |
| 113 | 169—152 B. C. | Khāravela dies. (*Ibid*) |
| 114 | 166 B. C. | Nakṣatrāchārya, the first among the eleven-Aṇgadhārîs flourished. (Dhavala, *loc. cit.*) |
| 115 | 155 B. C. | King Menander attacked India and came into the touch of the Jaina monks. (Milinda : 108 & Hist. Gl. p. 78.) |
| 116 | 150 B. C. | Jain Inscription from Mathurā. (Ep. Ind. II, 195.) |
| 117 | 146 B. C. | Jayapala, who knew the eleven Angas flourished. (Dhavalā, *loc. cit.*) |

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

| No. | Period & Date. | Events. |
|---|---|---|
| 118 | 123 B. C. | Kālkāchārya invites 96 Shāhi Saka clans to Saurāṣṭra; who attacks later on Gardabhilla, the king of Ujjain and restores Āryikā Saraswatī to Kālka. (Cambridge History of India, I, p 167.) |
| 119 | 107 B. C. | Pāṇḍava, another eleven Anga-dhārī flourished. (Dhavalā, *loc. cit.*) |
| 120 | 100 B. C. | During the reign of Azes I Jainism flourished at Taxilla. (SJI, II, 2, p 13.) |
| 121 | 93 B. C. | Dhruvasen, eleven Angadhārī flourished. (Dhavalā, *loc. cit.*) |
| 122 | 61 B. C. | Kaṁsa, eleven Angadharī followed Dhruva |
| 123 | 57 B. C. | Nahapāna Kṣatrapa was ruling at Bhragukachcha and was defeated by king Gautamiputra Sātākarṇi, who was known as 'Vikrmāditya' also. Nahapāna was a follower of Jainism at a time and Vikrmāditya was also converted to Jain faith. (SJI. II, 2. pp. 20—25 & 62—64 & JBORS. XVI. 250 ff.) |
| 124 | 53 B. C. | Vik. Sam. 4. Mathurā Jain image inscription, edited by Buhler. (Ep. Ind. II, 201.) |

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

| No. | Period & Date. | Events. |
|---|---|---|
| 125 | ,, | Mathurā Jaina image inscriptions Saṃvat 5 & 18, edited by Buhler. (Ep. Ind. III, No. 12& 14.) |
| 126 | ,, | Mathurā Jaina image inscription of Saṃvat 5, edited by Buhler, records the dedication of an image of Vardhamāna Tīrthankara by the daughter of Pāla. (Ep. Ind. I, p. 381 No. I.) |
| 127 | ,, | Mathura Jaina image inscription of Saṃvat 5, records the dedication of an image for the welfare and happiness of all creatures. (Arch :Survey Rep. III, p. 30,-No. 2 and Ind. Ant., Vol 33. p. 16.) |

*—To be contd.*

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

# KṚṢṆA LEGEND IN THE JAIN CANONICAL LITERATURE. PART I.

*By*

Mr. M.N. Deshpande[1], B. A.

The life history of Kṛṣṇa has been from ancient times a favourite subject and a treasure-house to extract legendary material for all writers on various topics: religious, philosophical, didactic and mundane. Even to-day it inspires poets to pen enchanting lyrics and it will continue to be so even in future. Complex is the personality of Kṛṣṇa and oriental scholars have put before the scholar-world, diverse opinions on the point. Before entering in that controversial discussion, I propose to deal with the legend of Kṛṣṇa as found in the Jain Canonical literature, as the first part of my article. The second part will consist of a critical comparison of Jain tradition with the Brahmanic tradition as recorded in the Mahābhārata and some deductions based on that comparion.

Though we cannot assign exact date to the Jain Canonical Literature (for the writing activity extended over a period of about thousand years), the books from which I have culled the material, with the exception of one book (10th Aṅga)[2] can be said to represent the tradition before the beginning of the Christan era[3]. Thus this material will naturally interest the scholars interested in the study of Mahābhārata and the late Purāṇas.

I have arranged the material in a certain manner that will facilitate its comparison with the Mahābhārata tradition. The material

---

1. I am thankful to Professor *H. D. Sankalia* for giving me this subject and guiding me in its study.
2. *Uttarâdhyayana* ed. J. *Charpentier*, Intro. 26—7
   It is stated here that "It may as well be remarked at once that the 10th Anga is apparently in its present shape a very late composition."
3. *Ibid.* 31—2.
4. *Utta. op. cit.* 164.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

in the present shape will interest the reader as it gives a coherent story of the Kṛṣṇa tradition.

1. *Kṛṣṇa's genealogy*[4]

(i) Vasudeva—He was a king in the city of Soriyapura. He had two wives Rohiṇī[5] and Devakī and each of them had a beloved son Rāma and Keśava.

(ii) *Kṛṣṇa—His birth*[6]—Devaī, wife of Vasudeva had borne seven sons, of whom Kaṇha (Kṛṣṇa) was the last, but she was not allowed the pleasure of rearing them. A lady by name Sulasā had brought forth in succession seven infants which were still-born in consequence of a course. Now Sulasā was a devotee of the god Hariṇe—gamesī, and prayed to him for assistance. Her prayers and devotion prevailed: so the god Hariṇe-gamesī, out of compassion for the lady Sulasā took away her still-born babes and carried them to Devaī, taking back to Sulasā, Devaī's vigorous off-springs and so Sulasā became their reputed mother, and brought them up. Devaī's six elder sons took no notice of her, but the youngest Kaṇha, the magnificient monarch, came every six months in state "to do homage at her feet." On one occasion he discovered his mother's sacred grief and that she longed for the joys of motherhood. Thereupon Kaṇha by the magic of his fasting induced Hariṇe—gamesi to grant Devaī her desires and an 8th son was born, who became a Jain monk and ultimately Arhat.

(a) *Kṛṣṇa's person*—He was ten Dhanus in height.

2. *Kṛṣṇa's sovereignty*[7]—

Kṛṣṇa Vāsudeva ruled and exercised snpremacy over half of Bhāratavarśa. He had under his sovereign power the following chiefs.

---

5. *Praśnavyakarana Āgamodaya Samiti* 83. "It is stated that the marriage ceremony of Draupadī, Rukmiṇī, Rakta-Subhadrā and Rohiṇī, brought in their train great battles."

6. *Aṅtagaḍadasāo* ed. *P.L. Vaidya.* 12 and *Sthānaṅga Sūtra ed. Āgam. S.* 486.

7. *Aṅta.* op. cit. 4 and *Nāyāḍhammakahāo* ed. *N. V. Vaidya* 68. 176

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(a) Samudravijaya[8]—He led the ten Dasāra Princes and is mentioned as a powerful king of Soriyapura, a city where Vasudeva ruled. The Dasāras descended from Yadu. The name of Samudravijaya's wife was Śivā. Ariṭṭhanemi and Rahanemi were his sons, the former being the 22nd Tirthankara of the Jainas. Ariṭṭhanemi is called the hero of the Vṛṣṇis. In the list of the sons of Andhakavṛṣṇī and Dhariṇī, we find the following names: Samudravijaya, Akśobhya, Acala, Dharaṇa, Puraṇa, Abhicandra and Vasudeva. Andhakavṛṣṇi is described as a king (belonging to the Royal family) of Dwārakā.

(b) Baldeva[9] who led the five Mahāvīras is the brother of Kṛṣṇa and the son of Vasudeva and Rohiṇi. His other name is Rāma or Rāma Baladeva. He is said to have ruled Dwārakā, but under the sovereignty of Kṛṣṇa. He had a wife by name Revatī. Their son Nisāda having married 50 princesses on one day accepted the Law, having listened to the words of Tirthankara. Baladeva was 10 dhanus in height and lived for 1200 years.

(c) Pajjunna[10] who led the three and half crores of Kumaras was the son of Rukmiṇi.

(d) Samba[11] led 60,000 invincible warriors.

(e) Vīrasena[12] led 50,000 warriors.

(f) Ugrasena[13] who led 21,000 warriors belonged to the family of Bhogas. The legend of Rathanemi from Uttarādhyayaṇa does not mention his name. The Legend is as follows: The daughter of Ugrasena by name Raimai (Rājimati) was asked by Kṛṣṇa in marriage for Ariṣṭanemī. Ariṣṭanemī while going to the marriage pandal happens to see the flock of sheep intended to serve for the marriage feast. Moved to pity by the sight of these creatures,

8. *Utta.* op. cit. 164 and *Añta.* op. cit. 4—6.
9. *Nirayāvali* ed. *P. L. Vaidya.* 5. 70—71. and *Samavāyāṅga Sūtra Āgam. S.* 16 and 21.
10. *Nirayā.* op. cit. 44.
11. *Ibid.*
12. *Ibid,*
13. *Utta.* op. cit. 164.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

he renounced the worldly life. He was followed by his brother and the bride Rājimatī. Kṛṣṇa performed their renunciation ceremonies and blessed them. Then there follows a very interesting but at the same time very didactic account of the meeting of Rājimati and Rathanemī.

(ii) *Kṛṣṇa's wives*[14]—The canonical tradition is not unanimous on this point. *Nāyā.* gives that he had 32,000 wives while *Aṅta.* and *Pra. Vyā.* give that he had 16,000 wives. His chief queen was Rukmiṇī. It is also stated that the marriage of Rukmiṇī brought in its train a great battle. We also get the list of his wives who became nuns. It runs as follows: Padmāvatī, Gorī, Gandharī, Lakśnā, Jāmbuvaī, Saccabhāmā and Ruppiṇī.

3. *Exploits of Kṛṣṇa*[15]—In *Pra. Vyā.* Kṛṣṇa is described as having killed Maustika and Canūra. He also killed Vijjāhara, Ke si Sauṇi and Putaṇā. He is described as the destroyer of the crown of Kaṁsa and the pride of Jarāsaṅdha. In *Sūtrakṛatāṅga* we get a reference to the fight of Kṛṣṇa with Śiśupāla.

4. *Destruction of Dwārakā and the death of Kṛṣṇa*[19]—Kṛṣṇa once asked the sage Ariṣṭanemī about the source of destruction of Dwārakā. He told that it will be caused by wine, fire and anger of Dwaipāyana. When the city of Dwärakā will be burning, Kṛṣṇa going to Pandu-Mathura to see Pāṇḍavas accompanied by Rāma Baladeva, with all his relatives killed and passing through Kosaṁba forest, and while sitting on a slab of stone under a bunyan tree will be killed being pierced in the foot by a sharp arrow discharged by Jarakumara. He lived for 10,000 years.

(i) *Future births of Kṛṣṇa*[17]

(a) First he will be born in the Vālukaprabhā hell.

(b) Then he will be born as the 12th Prophet by name Amama in the Utsarpiṇī era in the Pandu country.

14. *Aṅta.* op. cit. 5 and 25 and *Nāyā.* op cit. 68 and *Pra. Vyā.* op. cit, 85.
15. *Pra. Vyā.* op. cit. 71—2 and *Sūtrakṛitāūga* ed. *P. L. Vaidya* 18.
16. *Aṅta.* op. cit. 25 and *Sthā. S.* op. cit, 486.
17. *Aṅta.* op. cit. 26.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

5. *Kṛṣṇa and the Pāṇḍavas*[13]

(i) Paṅḍu-He is mentioned as the king of Hastināpura with Kuṅtī as his wife. Kuṇtī is the sister of Vasudeva. Panḍu had in all five sons: Yudhiṣṭhira, Bhīma, Arjuna, Nakula and Sahadeva.

(ii) *Drupada*[19]—He is the king of Kampillapura, a city in the country of Paṅcāla in Bhāratavarśa. The name of his wife is Cellaṇā. They had a son by name Dhuṭṭhajjumma and a daughter by name Draupadī.

(a) *Draupadī*[20]—Her former births—She is born first as the wife of a Brahmin. In this birth she becomes the cause of the death of the monk by offering him poisonous alms. Due to this impious act, she is put to great torment and after her death she is born in a hell, then as a fish, again as a hellish creature, then as a dog, again as a hellish creature and so on for a number of times. In the end she is born as the daughter of a merchant. When she came of age, she was married to a merchant youth, but because of her burning touch he ran away. The same thing happened in the case of a beggar who was married to her subsequently. Afterwards she becomes a nun but she does not obey her female preceptor and performs penance in a garden where she sees a courtisan enjoying in the company of five men. She longs for the same enjoyments and performs 'Nidāna' and then becomes loose in conduct and ultimately dies to be born as the daughter of Drupada.

(b) *Svayaṁvara of Draupadī*[21]—Invitations for the svayaṁvara ceremony were sent to the following kings and Princes:—Kṛṣṇa, along with the chiefs of Dwārakā-Samudravijaya etc. (This contains the list of all kings mentioned under Kṛṣṇa's sovereignty). Paṅḍu the king of Hastīnāpura along with his five sons :—Juhiṭṭhilla, Bhīmasena, Ajjuna, Naula, Sahadeva and Duryodhana along with his 100 brothers. So also Sauṇī, Sahadeva the son of Jarāsandha of Rāyagiha, Āsatthāma, Javaddaha and Salla. Also Kaṇha

18. *Nāyā* op. cit. 178.
19. *Nāyā*, op. cit. 175—6.
20. *Nāyā*, op. cit. 152—76.
21. *Nāyā*. op. cit. 178.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Angirāya, Nandiraya of Campā, Sisupala the son of Damaghōsa of Suttimaī along with his 500 brothers, King Damadanta of Hastināpura, Hatthisīsa, king Dhāra of Mahurā, Ruppī the son of Mesaga of Kodinna, Kīvaga of Viraṭa along with his 100 brothers and many other kings.

(e) *Draupidi's Choice*[22]:—She entered the pandal with a female companion of her who acquainted her with the kings and princes who had arrived there by means of a mirror in which they were reflected. She was first made acquainted with Dasāra Princes, then with Ugrasena and then the Pāṇḍavas. She, impelled by her former 'Nidāna' chose the five Pāṇḍavas as her husbands and garlanded them together.

(iii) *Nārada*[23] is characterised as a type of man interested in quarrels. He used to instigate people to quarrels, add fuel to the fire and pose as an impartial observer. He is named as Kacchulla-Nārae.

(a) Nārada[24] persuades Paumanābha of Avarakaṅkā or Amarakaṅkā to kidnap Draupadi as a revenge for her rude behaviour. Paṇḍu seeing that Draupadi was kidnapped made investigations and sent Kuṇtī to Kṛṣṇa to request him to bring her back. Pāṇḍavas who accompanied Kṛṣṇa in this expedition are unable to vanquish Paumanabha. Kṛṣṇa defeats him and starts on his return journey. The Āvarakaṅka of Kṛṣṇa is included in the ten Acchéragas or wonders.

(b) *Ganges episode*[25]: Pāṇḍavas on their return journey had to cross Ganges. There they think of testing the might of Kṛṣṇa, as a consequence of such an act of distrust, Pāṇḍavas are banished to the southern Bhāratavarśa. They stayed at Pandu-Mathura extolling Kṛṣṇa.

---

22. *Nāyā.* op. cit. 182,
23. *Nāyā.* op. cit. 184, Stha. S. op, cit. 523.
24. *Nāyā* op. cit. 195.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

6. *The end of Pāṅḍavas*[25] :—Pāṅḍavas as ordered by Kṛṣṇa repaired to the southern part of Bhāratavarśa and lived there extolling Kṛṣṇa. There Draupadī gave birth to a son by name Pandusena. Pāṅḍavas then accepted the Jain faith in the presence of Ariṣṭanemī. Once they heard that Ariṣṭanemī along with 536 monks breathed his last on the mount Girnara and being inspired to end their lives in a similar fashion, Pāṅḍavas climbed the Śatruñjaya mountain, lived there performing many fasts for a few years, studied the 14 Purvas along with Acārāṅga and finally attained Kevala knowledge and Mokśa.

Draupadi, hearing this, mastered the 11 Angas at the feet of the nun Suvratā, having mortified the flesh by many fasts, having confessed and expiated for many years, died and was born in Brahmaloka for the duration of 10 Sāgaropamas. It is also told that she will be liberated in the Mahāvideha-varśa.

25. *Nāyā.* op. cit. 197—9.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

# THE METAPHYSICS AND ETHICS OF THE JAINAS.[1]

*By*

H. Jacobi

All who approach Jain philosophy will be under the impression that it is a mass of philosophical tenets not upheld by one central idea, and they will wonder what could have given currency to what appears to us an unsystematical system. I myself have held, and given expression to, this opinion, but I have now learned to look at Jain philosophy in a different light. It has, I think, a metaphysical basis of its own, which secured it a distinct position apart from the rival systems both of the Brahmans and of the Buddhists. This is the subject on which I would engage your attention for a short space of time.

Jainism, at least in its final form, which was given it by its last prophet the twenty-fourth Tīrthakara Mahāvīra, took its rise, as is well known, in that part of Eastern India where in an earlier period, according to the Upaniṣads, Yājñavalkya had taught the doctrine of Brahman and Ātman, as the permanent and absolute Being, and where the Mahāvīra's contemporary and rival, Gotama the Buddha, was preaching his Law, which insisted on the transitoriness of all things. Jainism, therefore, had to take a definite position with reference to each of these mutually exclusive doctrine; and these it will be necessary to define more explicitly.

The one great truth which the authors of the Upaniṣads thought to have discovered, and which they are never weary of exalting, is

---

1. The late lemented Dr. Hermann Jacobi was a leading Orientalist and a pioneer of Jaina studies in Europe. This important paper of his was originally published in the Transactions of the Third International Congress for the History of Religions, Vol. II, pp. 59-66, Oxford 1908. This volume is is not easily available. Many scholars, interested in Jainism, wrote to me for a copy of this paper. I have with me an offprint of it. For the benefit of those to whom this paper is not accessible, I thought it advisable to reprint it in the Jaina Antiquary.—A. N. U.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

that, underlying and upholding from within all things, physical as well as psychical, there is one absolute permanent Being, without change and with none other like it. The relation between this absolute Being and existent matter has not clearly been made out by the authors of the Upaniṣads, but all unprejudiced readers will agree that they looked on the phenomenal world as real. On this point the different schools of Vedāntins arrived at different conclusions, which, however, need not detain us here.

In opposition to this Brahmanical doctrine of absolute and permanent Being, Buddha taught that all things are transitory; indeed his dying words were, that all things that are produced must perish. The principal heresy, according to the Buddhists, is the *Ātmavāda*, i.e. the belief that permanent Being is at the bottom of all things; they are, as we should say, but phenomena or as Buddha expressed it, *dharmas*; there is no *dharmin*, no permanent substance of which the dharmas could be said to be attributes.

Thus the Brahmans and the Buddhists entertained opposite opinions on the problem of Being because they approached it from two different points of view The Brahmans exclusively followed the dictates of pure reason which forces us to regard Being as permanent, absolute, and uniform; the Buddhists, on the other hand, were just as one sided in following the teaching of common experience according to which existence is but a succession of originating and perishing. Either view, the *a priori* view of the Brahmans, and the *a posteriori* view of the Buddhists, is beset with many difficulties when we are called upon to employ it in explanation of the state of things as presented to us by our consciousness; difficulties which cannot be overcome without a strong faith in the paramount truth of the principle adopted

The position taken by the Jainas towards the problem of Being is as follows. Being, they contend, is joined to production, continuation, and destruction (*sad utpāda-dhrauvya-vināśa-yuktam*), and they call their theory the theory of indefiniteness ( *anekāntavāda* ), in contradistinction to the theory of permanency (*nityavāda*) of the Vedāntists, and to the theory of transitoriness (*vināśavāda*) of the

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Buddhists. Their opinion comes to this. Existing things are permanent only as regards their substance, but their accidents or qualities originate and perish. To explain: any material thing continues for ever to exist as matter; which matter, however, may assume any shape and quality. Thus clay as substance may be regarded as permanent, but the form of a jar of clay, or its colour, may come into existence and perish.

The Jain theory of Being appears thus to be merely the statement of the common-sense view, and it would be hard to believe that great importance was attached to it. Still it is regarded as the metaphysical basis of their philosophy Its significance comes out more clearly when we regard it in relation to the dectrines of *Syādvāda* and of the *Nayas*.

Syādvāda is frequently used as a synonym of *Jainapravacana* (e.g. at a later date in the title of a well-known exposition of the Jaina philosophy entitled *Syādvāda-Mañjarī*); and it is much boasted of as the saving truth leading out of the labyrinth of sophisms. The idea underlying the *Syādvāda* is briefly this. Since the nature of Being is intrinsically indefinite and made up of the contradictory attributes of originating, continuance, and perishing, any proposition about an existing thing must, somehow, reflect the indefinitenass of Being; i.e. any metaphysical proposition is right from one point of view, and the contrary proposition is also right from another. There are, according to this doctrine, seven forms of metaphysical propositions, and all contain the word *syāt*, e. g. *syād asti sarvam, syād nāsti sarvam*. *Syāt* means 'may be', and is explained by *kathaṃcit*, which in this connexion may be translated 'somehow'. The word *syāt* here qualifies the word *asti*, and indicates the indefiniteness of Being (or *astitvam*). For example, we say, a jar is somehow, i.e. it exists, if we mean thereby that it exists as a jar; but it does not exist somehow, if we mean thereby that it exists as a cloth or the like.

The purpose of these seeming truisms is to guard against the assumption made by the Vedāntins that Being is one without a second, the same in all things. Thus we have the correlative predicates 'is', (*asti*) and 'is not' (*nāsti*). A third predicate is 'inexpressible'

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(*avaktavya*); for existent and non-existent (*sat* and *asat*) belong to the same thing at the same time, and such a coexistence of mutually contradictory attributes cannot be expressed by any word in the language. These three predicates variously combined make up the seven propositions or *sapta-bhaṅgas* of the Syādvāda. I shall not abuse your patience by discussing this doctrine at length; it is enough to have shown that it is an outcome of the theory of indefiniteness of Being (*anekāntavāda*), and to have reminded you that the Jainas believe the Syādvāda to be the key to the solution of all metaphysical questions.

The doctrine of the Nayas which I mentioned before is, as it were, the logical complement to the Syādvāda. The nayas are ways of expressing the nature of things: all these ways of judgement are, according to the Jainas, one-sided, and they contain but a part of the truth. There are seven nayas, four referring to concepts, and three to words. The reason for this variety is that Being is not simple, as the Vedāntins believe, but is of a complicated nature; therefore, every statement and every denotation of a thing is necessarily incomplete and one-sided; and if we follow one way only of expression or of viewing things, we needs must go astray.

There is nothing in all this which sounds deeply speculative; on the contrary, the Jain theory of Being seems to be a vindication of common-sense against the paradoxical speculations of the Upaniṣads. It is also, but not primarily, directed against the Buddhistic tenet of the transitoriness of all that exists. We cannot, however, say that it expressly and consciously combats the Buddhistic view, or that it was formulated in order to combat it. And this agrees well with the historical facts, that Mahāvīra came long after the original Upaniṣads, but was a contemporary of Buddha. He was obliged, therefore, to frame his system so as to exclude the principles of Brahmanical speculation, but his position was a different one with regard to the newly proclaimed system of Buddha.

I have not yet touched on the relation between Jain philosophy on the one hand and Sāṅkhya-Yoga on the other. We may expect a greater community of ideas between these systems, since both

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

originated in the same class of religious men, viz. the ascetics known as the Śramaṇas, or, to use the more modern term, Yogins. As regards the practice of asceticism, the methods and the aim of Yoga, it has long been proved that the Yoga of Brahmans, Jainas, and Bauddhas are closely related to each other, and there can be no doubt that they have all developed from the same source. But I am now concerned only with those philosophical ideas which have a connexion with ascetic practice and form the justification thereof.

Now the Sānkhya view as to the problem of Being is clearly a kind of compromise between the theory of the Upaniṣads and what we may call the common-sense view. The Sānkhyas adopt the former with regard to the souls or *puruṣas* which are permanent and without change. They adopt the latter when assigning to matter or Prakṛti its character of unceasing change. The Sānkhyas contend that all things besides the souls or *puruṣas* are products of the one Prakṛti or primaeval matter, and similarly the Jainas teach that practically all things besides the souls or *jīvas* are made up of matter *pudgala*, which is of only one kind and is able to develop into every thing. It will thus be seen that the Sānkhyas and Jainas are at one with regard to the nature of matter; in their opinion matter is something which may become anything. This opinion, it may be remarked, seems to be the most primitive one; not only was it entertained by the ancients, but also it underlies the universal belief of transformation occurring in the natural course of things or produced by sorcery and spells. This is a point I wish to make, that the Sānkhyas and Jainas started from the same conception of matter, but worked it out on different lines. The Sānkhyas teach that the products of Prakṛti are evolved in a fixed order, from the most subtle and spiritual one (*Buddhi*) down to the gross elements, and this order is always reproduced in the successive creations and dissolutions of the world. The Jainas, on the other hand, do not admit such a fixed order of development of matter (*pudgala*), but believe that the universe is eternal and of a permanent structure. According to them matter is atomic, and all material changes are really going on in the atoms and their combinations. A curious feature of their atomic theory is that the atoms are either in a gross condition or in a subtle

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

one, and that innumerable subtle atoms take up the space of one gross atom. The bearing of this theory on their psychology I shall now proceed to point out But I must premise that the Jainas do not recognize a psychical apparatus of such a complex nature as the Sānkhyas in their tenet concerning Buddhi, Ahaṃkāra, Manas, and the Indriyas. The Jaina opinion is much cruder, and comes briefly to this. According to the merit or demerit of a person, atoms of a peculiar subtle form, which we will call *karma* matter, invade his soul or *jīva*, filling and defiling it, and obstructing its innate faculties The Jainas are quite out-spoken on this point, and explicitly say that *karman* is made up of matter, *paudgalikaṃ karma*. This must be understood literally, not as a metaphor, as will be seen from the following illustrations. The soul or *jīva* is extremely light, and by itself it has a tendency to move upwards ( *ūrdhvgaurava* ), but it is kept down by the karma matter with which it is filled. But when it is entirely purged of karma matter, at Nirvāṇa, it goes upwards in a straight line to the top of the universe, the domicile of the released souls. To take another example. The karma matter within a soul may assume different conditions. It may be turbulent, as mud in water which is being stirred; or it may be inactive, as mud in water when it has settled at the bottom of a basin; or it may be completely neutralized as when the clear water is poured off after the mud has been precipitated. Here again it is evident that karma is regarded as a substance or matter, though of an infinitely more subtle nature than the impurities of water referred to in the illustration. As a third instance I will refer to the six *Leśyās* or complexions of the souls, ranging from deepest black to shining white, colours which we common mortals cannot perceive with our eyes. This doctrine was shared also by the Ājīvikas, on whom Dr. Hoernle[1] has thrown so much light. These colours of the soul are produced on it by the karman which acts as a colouring substance. Here also the material nature of karman is quite obvious.

To return from this digression, the karma matter that enters the soul is transformed into eight different kinds of karman, about which

1. Encyclopaedia of Religion and Ethics, vol. I. pp. 259 sq.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

I shall have to say a word presently. This change of the one substance into eight varieties of karman is likened to the transformation of food consumed at one meal into the several fluids of the body. The karma matter thus transformed and assimilated builds up a subtle body, which invests the soul and accompanies it on all its transmigrations, till it enters Nirvāṇa and goes up to the top of the universe. This subtle body or *kārmaṇaśarīra* is obviously the Jain counterpart of the *sūkṣmaśarīra* or *liṅgaśarīra* of the Sāṅkhyas[1]. In order to understand the functions of this subtle body or kārmaṇaśarīra, we must take a summary view of the eight kinds of karman of which it is composed. The first and second (*jñānāvaraṇīya* and *darśanāvaraṇīya*) obstruct knowledge and faith, which are innate faculties of the soul or *jīva*; the third (*mohanīya*) causes delusion, especially the affections and passions; the fourth (*vedanīya*) results in pleasure and pain; the fifth (*āyuṣka*) assigns the length of life to the person in his present birth; the sixth (*nāma*) furnishes him with all that belongs to him as an individual; the seventh (*gotra*) makes him a member of the class or genus which he is to belong to; the eighth (*antarāya*) produces hindrances to the realization of his virtues and powers. Each of these eight kinds of karman endures for a certain period, of varying length, within which it must take its proper effect. Then it is expelled from the soul, a process which is called *nirjarā*. The opposite process, the influx of karman into the soul, is called *āsrava*, a term well known to students of Buddhism. The occasions for āsrava are the actions of the body and mind (*yoga*); they open as it were an inlet for karma matter to invade the soul. If that soul is in a state of iniquity, i.e. if the person under consideration does not possess right faith, or does not keep the commandments (*vrata*), or is careless in his conduct, or does not subdue his passions, then, in all these cases, singly or collectively, especially under the influence of the passions, the soul must retain the karma matter, or, as the Jainas says, binds it (*bandha*). But the influx of karma matter or āsrava can the prevented; this is called the stopping or *saṃvara*.

These primitive notions the Jainas have worked out into a philosophical superstructure, which serves just as well as that of the

1. The Jainas recognize four different subtle bodies; see Tattvārth, ii, 37 sq.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Sānkhyas (but on different lines) to explain the problems of mundane existence and to teach the way of salvation. In order to make this clear I must add a few more details.

Saṃvara is effected, i,e the influx of karma is prevented by the observance of peculiar rules of conduct, by restraint of body, speech, and mind by strict morality, by religious reflections, by indifference to things pleasant or unpleasant, etc. The most effective means, however, is the practice of austerities (*tapas*), which has this advantage over the other means, that it not only prevents karma from accumulating, but also consumes the accumulated karma. Tapas, therefore, produces also nirjarā and leads to Nirvāṇa; it is the chief means of salvation, as might be expected in a religion of ascetics. The denotation of the word 'tapas' in Jainism is somewhat different from its usual meaning. There is tapas of the body (*bāhya tapas*) and tapas of the mind (*ābhyantara tapas*). The former consists in fasting, or eating scanty and tasteless food, in want of comfort and in mortification of the flesh. The mental tapas contains various items, as confession of sins and penance, monastic duties, obedience, modesty, self-restraint and meditation (*dhyāna*). I wish to lay stress on the fact that in the course of asceticism taught by the Jainas meditation is only one of many steps leading to the ultimate goal: Though Nirvāṇa is immediately preceded by the two purest stages of meditation, yet all other parts of tapas appear of equal importance. We shall see the singificance of this fact more clearly, when we compare the Jaina tapas with what corresponds to it in Sānkhya-Yoga. Their Yoga contains some of the varieties of Jaina tapas; but they are regarded as inferior to meditation or contemplation. Indeed the whole Yoga centres in contemplation; all other ascetic practices are subordinated and subservient to contemplation—*dharaṇā*, *dhyāna* and *samādhi*. This is but natural in a system which makes the reaching of the *summum bonum* dependent on *jñāna*, knowledge. The theory of the evolution of Prakṛti, beginning with Buddhi, Ahaṃkāra, and Manas, appears, to my mind, to have been invented in order to explain the efficiency of contemplation for acquiring supernatural powers and for liberating the soul. Sānkhy-Yoga is a philosophical system of ascetic; but their asceticism has been much refined and has become spiritualized in a high degree. The asceti-

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

cism of the Jainas is of a more original character; it chiefly aims at the purging of the soul from the impurities of karman. Jainism may have refind the asceticism then current in India; it certainly rejected many extravagances, such as the voluntary inflicting of pains; but it did not alter its character as a whole. It perpetuated an older or more original phase of asceticism than the Brahmanical Yoga, and carries us back to an older stratum of religious life i which we can still detect relics of primitive speculation in the shape of such crude notions as I have had occasion to mention in the course of my paper.

In conclusion I shall shortly touch on the third current of Indian philosophical speculation, viz the philosophy of the Pandits which is represented to us by the Nyāya and Vaiśeṣika systems. This philosophy may be characterized as an attempt to register, to define, and to arrange in systematic order the concepts and general notions which are the common possession of all who spoke the Sanskrit language. Such a philosophy had some attraction for the Jainas who, as we have seen, always sided with common-sense views, and in fact many Jainas have written on Nyāya and Vaiśeṣika. But at the time when the Jain system was framed, the Pandit, as we know him in later times, had probably not yet become distinguished from the Vedic scholar or theologian; it is almost certain that there was as yet no class of persons who could be called Pandits, and consequently their philosophy also was wanting. And the tradition of the Jainas themselves says as much; for according to them the Vaiśeṣika system was founded by Chaluya Rohagutta, originally a Jaina and pupil of Mahāgiri, eighth Sthavira after Mahāvīra. Thus we have no occasion to inquire into the relation between this system and Jainism. But it may be mentioned that the atomic theory which is a marked feature of the Vaiśeṣika, is already taught in outline by the Jainas. As regards the Nyāya system, it is almost certainly later than Jainism; for the dialectics and logic of the Jainas are of a very primitive character, and appear entirely unconnected with the greatly advanced doctrines of the Naiyāyikas.

In conclusion let me assert my conviction that Jainism is an original system, quite distinct and independent from all others; and that, therefore, it is of great importance for the study of philosophical thought and religious life in ancient India.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

# प्रशस्ति-संग्रह

"प्रशस्ति-संग्रह आद्योपान्त पढ़ा। इसमें ५४ शास्त्रों की प्रशस्तियां हैं। ग्रन्थ-प्रशस्तियां इतिहास-निर्माण के बहुमूल्य साधन हैं। इतिहास अन्वेषकों के लिये प्रशस्ति-संग्रह की अत्यावश्यकता है। आपने बड़ी खोज और श्रम के साथ जो प्रशस्ति-संग्रह जनता के सामने रक्खा है, वह आप का अपूर्व कार्य है। उक्त संग्रह में करीब ४० ग्रन्थकर्त्ताओं का परिचय है। आप की इस खोज और विद्वत्ता से मैं ही नहीं बल्कि सारी जैन समाज आभारी रहेगी।"

—नन्हेंलाल शास्त्री, कुचामन

"प्रशस्ति-संग्रह लिखकर आपने जैनसाहित्य के महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थों के समय निरूपण का बड़ा ही श्लाघनीय प्रयत्न किया है। इस ग्रन्थ को देखकर कोई भी व्यक्ति आप की विस्तृत ऐतिहासिक गवेषणा तथा अनुशीलन की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता।

—प्रो० बलदेव उपाध्याय एम० ए०, बनारस

## जैन-सिद्धान्त-भवन द्वारा प्रकाशित अन्य ग्रन्थ

(१) मुनिसुव्रतकाव्य—अर्हद्दास [एक बहुत ही सुन्दर सरल एवं सरस जैन महाकाव्य]—अनु० पं० के० भुजबली शास्त्री तथा पं० हरनाथ द्विवेदी ३।)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिकशास्त्र [फलित ज्योतिष का एक अपूर्व जैन ग्रन्थ] अनु० प्रो० रामव्यास पाण्डेय, ज्योतिषाचार्य .. ... १।=)

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह [जैन इतिहासनिर्माण का एक उपयोगी साधन]— सं० बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० ... ।।।)

(४) वैद्यसार [रसायन सम्बन्धी एक अपूर्व जैन वैद्यक ग्रन्थ]— अनु० पं० सत्यन्धर, आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ ... ... १)

(५) तिलोयपण्णत्ती मूल प्र० भाग [जैन-लोकज्ञान-सिद्धान्त विषयक एक सुन्दर प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ]—सं० डा० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए० ... १)

(६) Jaina Literature In Tamil *by* Prof. A. Chakravarti, M A., I. E. S., ... ... ... Price Rs. 2-12

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

# THE PRAŚASTI SAMGRAHA

*Edited by*

Pt. K. Bhujabali Śāstri, Vidyābhūsan.

With an introduction by—Mahamahopādhyaya Dr. R. Shamshastri. pp 5+200+25 = 230 Price Rs. 1-8-0

'It is indeed a very valuable reference book, full of information and presented in a neat form.'

Dr. A. N. Upadhye, Kolhapur.

'It is a very useful compilation. Very carefully prepared.'

Prof. D. L Narasimhachar, Mysore.

'You are doing real service to culture by publishing notes on literary works on Jainism and other works also hitherto unpublished.

Dr. S. Sheshgiri Rao, Vizianagaram.

'The descriptive catalogue of Sanskrit Mss. will be highly useful publication when completed.'

*Prof.* Chintaharan Chakravarti, Calcutta.

'Thank you very much for the Copy of the Prasasti Samgraha, which will be of great use for my Catalogue work.'

Dr. Raghavan
University of Madras.

'Pras'astisamgraha, by Pt. K. Bhujabali Shastri. This is a good descriptive Catalogue of Sanskrit & Prakrit Mss.'

—The Poona Orientalist.

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust